प्रधान सम्पादक
म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प–33

समणसुत्तं–चयनिका

– डॉ. कमलचन्द सोगाणी

प्रकाशक :
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत भारती पुष्प–३३

समणसुत्तं - चयनिका

सम्पादक :
डॉ० कमलचन्द सोगाणी
पूर्व प्रोफेसर, दर्शन विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक :

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :

सचिव, प्राकृत भारती अकादमी

१३ - ए, मेन मालवीय नगर,

जयपुर - ३०२०१७

☎ ५२४८२७, ५२४८२८

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष, श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,

पोस्ट - मेवानगर : ३४४०२५

स्टेशन - बालोतरा, जिला - बाड़मेर (राज.)

प्रथम संस्करण : १९८५ **द्वितीय संस्करण : १९८८**

तृतीय संस्करण : १९९५ **चतुर्थ संस्करण : १९९६**

पंचम संस्करण : २०००

© प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.)

मूल्य - ३०.००

मुद्रक : **कमल प्रिन्टर्स, जयपुर**

SAMANSUTTAM CAYANIKA / philosophy

✹ Kamal Chand Sogani, Udaipur

Fifth Edition : 2000 Price Rs. 30.00

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती अकादमी के ३३वें पुष्प के रूप में समणसुत्तं-चयनिका का द्वितीय संस्करण अध्येताओं के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

एक प्रश्न बार-बार पूछा जाता रहा है कि क्या कोई एक आधारभूत पुस्तक है जिससे जैन-दर्शन/धर्म की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सके ?श्रमण भगवान् महावीर के २५सौवें निर्वाण-महोत्सव के वर्ष में इस प्रश्न का समाधान खोजा गया। राष्ट्रसंत **विनोबाजी** की अन्तःप्रेरणा से एक सर्वमान्य ग्रन्थ **समणसुत्तं** तैयार हुआ। निःसंदेह इससे जैन दर्शन-धर्म की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यह ग्रन्थ जैन-धर्म के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान कराने में सक्षम है। इस ग्रंथ का सार सर्वसाधारण के लिये सुलभ हो सके, समझ सकें, इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर दर्शन के प्रोफेसर **डॉ० कमलचन्द सोगाणी** ने **समणसुत्तं-चयनिका** तैयार की है। इसमें हिन्दी अनुवाद के साथ १७० गाथाओं का अंग्रेजी अनुवाद भी सम्मिलित है। यह अंग्रेजी अनुवाद प्रथम बार ही किया गया है।

हमें यह कहते हुए हर्ष है कि प्राकृत भारती से डॉ० सोगाणी द्वारा सम्पादित **आचारांग-चयनिका** का प्रथम व द्वितीय संस्करण, **दशवैकालिक-चयनिका, अष्टपाहुड-चयनिका, गीता-चयनिका, वाक्पतिराज की लोकानुभूति** एवं **वज्जालग्ग मे जीवन-मूल्य** प्रकाशित की जा चुकी हैं। इन सफल प्रकाशनों से प्राकृत भाषा के अध्येताओं को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग आदि आगम-ग्रन्थों एवं प्राकृत साहित्य के हार्द को समझने में काफी सहयोग मिला है। आशा है **समणसुत्तं-चयनिका** का यह परिवर्तित द्वितीय संस्करण भी इसी प्रकार उपयोगी सिद्ध होगा। इसी क्रम में शीघ्र ही **उत्तराध्ययन-चयनिका, सूत्र-कृतांग-चयनिका, परमात्मप्रकाश व योगसार-चयनिका, समयसार-चयनिका** भी प्रकाशित की जावेंगी। प्राकृत भारती अकादमी का विश्वास है कि चयनिकाओं के प्रकाशन से समाज में प्राचीन उच्च साहित्य के अध्ययन में रुचि उत्पन्न हो सकेगी और हमें अपने सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़े रहने की प्रेरणा मिलेगी।

पुस्तक की सुन्दर छपाई के लिये हम एम. एल.प्रिन्टर्स, जोधपुर को धन्यवाद प्रदान करते हैं।

पंचम संस्करण

समणसुत्तं-चयनिका जैन धर्म के एक आधारभूत ग्रन्थ के रूप में वास्तव में स्थापित हो चुकी है, यह बात यह पंचम संस्करण स्वतः सिद्ध करता है। हम अध्येताओं तथा सामान्य पाठकों का आभार प्रकट करते हुए इसे उन्हें समर्पित करते हैं ।

पारसमल भंसाली	**म. विनयसागर**	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष,	निदेशक,	संस्थापक,
नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
मेवानगर	जयपुर	जयपुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण-महोत्सव के अवसर पर जैन-धर्म के प्राचीन मूल ग्रंथों में से चुने हुए सूत्रों का संकलन 'समण-सुत्तं' के रूप में प्रकाशित किया गया था, जिससे कि जैन-धर्म के बारे में पूरी जानकारी एक ही ग्रंथ में उपलब्ध हो सके। इस संकलन की उपयोगिता के कारण इसका चारों ओर से स्वागत किया गया। इसमें संकलित सभी सूत्र प्राकृत भाषा में हैं और सुबोधता के लिए साथ में अनुवाद भी दिया गया है। ग्रन्थ में सैद्धान्तिक सूक्ष्मताएं भी जगह-जगह पर प्राप्त होती हैं और प्राकृत भाषा को समझना भी सबके लिए सरल नहीं है। वैसे ग्रंथ का प्रमाण भी बड़ा है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत 'समणसुत्त' चयनिका की अपनी ही विशिष्टता है। मूल ग्रंथ के 756 सूत्रों में से इसमें मात्र 170 सूत्र चुने गये हैं, जो जैन-धर्म के मूल तथ्यों का प्रतिपादन तो करते हैं, परन्तु उनमें कहीं पर भी साम्प्रदायिकता नहीं झलकती है। चाहे जैन हों या अजैन सबके लिए यह समानरूप से उपयोगी है, क्योंकि यह 'आत्म-धर्म' क्या है? उसके बारे में विशद जानकारी प्रस्तुत करता है। इसे हम लघु 'धम्मपद' की संज्ञा दे सकते हैं। साथ ही साथ सूत्रों के प्रत्येक प्राप्त शब्द-रूप को एक नये ही ढंग से 'व्याकरणिक विश्लेषण' में इस तरह समझाया गया है कि किसी भी अप्राकृतभाषी अध्येता के लिए वह सरलता से ग्राह्य है। सूत्रों के हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी अनुवाद से अहिन्दी एवं विदेशी लोगों के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी बन गया है। सूत्रों के आधार से इस ग्रंथ में आगे दी गयी 'वाक्य मणियां' सूक्तियों के समान उपयोगी बन पड़ी हैं। विद्वान् लेखक प्राचीन मूल ग्रंथों की जटिलताओं को तोड़कर अपनी चयनिकाओं द्वारा धार्मिक एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लौकिक उपदेशों को जनसाधारण तक पहुंचाने का जो प्रयत्न कर रहे हैं वह प्रशंसनीय है और आशा है कि प्राकृत भाषा के प्राचीन एवं महत्वपूर्ण औपदेशिक ग्रन्थों की ऐसी चयनिकाएं उनके द्वारा प्रकाश में आती रहेंगी।

अहमदाबाद
3-8-85

डॉ. के. आर. चन्द्र
अध्यक्ष
प्राकृत-पालि विभाग
गुजरात विश्वविद्यालय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
1. प्रकाशकीय	
2. प्राक्कथन	
3. प्रस्तावना	i-xxiii
4. गाथाएँ एवं हिन्दी अनुवाद	2-63
5. चयनिका की वाक्य मणियाँ	64-70
6. अंग्रेजी अनुवाद	71-101
7. संकेत-सूची	102-103
8. व्याकरणिक विश्लेषण	104-151
9. समणसुत्तं चयनिका एवं गाथा क्रम	152-154
10. सहायक पुस्तकें एवं कोश	155

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

यह सर्व विदित है कि मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही रंगों को देखता है, स्पर्शों का अनुभव करता है, स्वादों को चखता है तथा गंधों को ग्रहण करता है। इस तरह उसकी सभी इन्द्रियां सक्रिय होती हैं। वह जानता है कि उसके चारों ओर पहाड़ हैं, तालाब हैं, वृक्ष हैं, मकान हैं, मिट्टी के टीले हैं, पत्थर हैं इत्यादि। आकाश में वह सूर्य, चन्द्रमा और तारों को देखता है। ये सभी वस्तुएँ उसके तथ्यात्मक जगत् का निर्माण करती है। इस प्रकार वह विविध वस्तुओं के बीच अपने को पाता है। उन्हीं वस्तुओं से वह भोजन, पानी, हवा आदि प्राप्त कर अपना जीवन चलाता है। उन वस्तुओं का उपयोग अपने लिये करने के कारण वह वस्तुजगत् का एक प्रकार से सम्राट् बन जाता है। अपनी विविध इच्छाओं की तृप्ति भी बहुत सीमा तक वह वस्तु-जगत् से ही कर लेता है। यह मनुष्य की चेतना का एक आयाम है।

धीरे-धीरे मनुष्य की चेतना एक नया मोड़ लेती है। मनुष्य समझने लगता है कि इस जगत् में उसके जैसे दूसरे मनुष्य भी हैं, जो उसकी तरह हँसते हैं, रोते हैं, सुखी-दुःखी होते हैं। वे उसकी तरह विचारों, भावनाओं और क्रियाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। चूँकि मनुष्य अपने चारों ओर की वस्तुओं का उपयोग अपने लिये करने का अभ्यस्त होता है, अतः वह अपनी इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्यों का उपयोग भी अपनी आकांक्षाओं और आशाओं की पूर्त्ति के लिए ही करता है। वह चाहने लगता है कि सभी उसी के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए जीएँ। उसकी निगाह में दूसरे मनुष्य वस्तुओं से अधिक कुछ नहीं होते हैं। किन्तु, उसकी यह प्रवृत्ति बहुत समय तक चल नहीं पाती है। इसका कारण स्पष्ट है। दूसरे मनुष्य भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति में रत होते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें शक्ति-वृद्धि की महत्त्वाकांक्षा का उदय होता है। जो मनुष्य शक्ति-वृद्धि में सफल होता है, वह दूसरे मनुष्यों का वस्तुओं की तरह उपयोग करने में समर्थ हो जाता है। पर मनुष्य की यह स्थिति घोर तनाव की स्थिति होती है। अधिकांश मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इस तनाव की स्थिति में गुज़र चुके होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह तनाव लम्बे समय तक मनुष्य के लिये असहनीय होता है। इस असहनीय तनाव के साथ-साथ मनुष्य कभी न कभी दूसरे मनुष्यों का वस्तुओं की तरह उपयोग करने में असफल हो जाता है। ये क्षण उसके पुनर्विचार के होते हैं। वह गहराई से मनुष्य-प्रकृति के विषय में सोचना प्रारम्भ करता है, जिसके फलस्वरूप उसमें सहसा प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्मान-भाव का उदय होता है। वह अब मनुष्य-मनुष्य की समानता और उसकी स्वतन्त्रता का पोषक बनने लगता है। वह अब उनका अपने लिये उपयोग करने के बजाय अपना उपयोग उनके लिये करना चाहता है। वह उनका शोषण करने के स्थान पर उनके विकास के लिये चिन्तन प्रारम्भ करता है। वह स्व-उदय के बजाय सर्वोदय का इच्छुक हो जाता है। वह सेवा लेने के स्थान पर सेवा करने को महत्व देने लगता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसे तनाव-मुक्त कर देती है और वह एक प्रकार से विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है। उसमें एक असाधारण अनुभूति का जन्म होता है। इस अनुभूति को ही हम मूल्यों की अनुभूति कहते हैं। वह अब वस्तु-जगत् मे जीते हुए भी मूल्य-जगत् में जीने लगता है। उसका मूल्य-जगत् में जीना धीरे-धीरे गहराई की ओर बढ़ता जाता है। वह अब मानव-मूल्यों की खोज में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संलग्न हो जाता है। वह मूल्यों के लिये ही जीता है और समाज में उनकी अनुभूति बढ़े इसके लिए अपना जीवन समर्पित कर देता है। यह मनुष्य की चेतना का एक दूसरा आयाम है।

समणसुत्तं में चेतना के इस दूसरे आयाम की सबल अभिव्यक्ति हुई है। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य ही समाज के लिये अहिंसात्मक आधार-शिला प्रस्तुत करते हैं। समणसुत्तं ऐसे ही सार्वभौमिक मूल्यों का आगार है। इसमें 756 गाथाएँ हैं जो जीवन के विभिन्न पक्षों को उजागर करके मनुष्य को परम शान्ति के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करती हैं। जैसे गीता और धम्मपद सार्वभौमिक मूल्यों को जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए सक्षम हैं, उसी प्रकार (सार्वभौमिक मूल्यों को जीवन से प्रतिष्ठित करने के लिये) समणसुत्तं सक्षम है। मनुष्य के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक विकास के लिए समणसुत्तं का मार्ग-दर्शन जीवन की गहराइयों को अनुभव करने के निमित्त महत्त्वपूर्ण है। केवल बुद्धि का विकास व्यक्तित्व की विषमताओं का निराकरण नहीं कर सकता। बुद्धि के विकास के साथ भावनात्मक विकास ही मनुष्य में सद्-प्रवृत्तियों को जन्म देता है। इनके फलस्वरूप ही समाज समता के प्रकाश से आलोकित हो सकता है। इस तरह से ज्ञान के साथ आचरण मनुष्य को उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक उत्थान के लिये समर्थ बनाता है। समणसुत्तं के चारों खण्डों में ज्ञान और आचरण (चारित्र) के प्रायः सभी बिन्दु समाविष्ट हैं। एक सबल तत्त्वदर्शन पर आधारित अनेकान्तवाद, नयवाद और स्याद्वाद जहाँ वस्तु को अपनी विविधताओं में समझने के लिये बौद्धिक यंत्र हैं। वहाँ श्रावकाचार और श्रमणाचार आत्मा की सजग पृष्ठभूमि में मनुष्य को जीवन की उच्चताओं का साक्षात्कार कराने के लिए समर्थ हैं। अनासक्त-भाव जीने की एक कला है। इसी से जीवन के संघर्षों और मरण की घड़ियों में मनुष्य मानसिक शान्ति बनाए रख सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणसुत्तं का अनुप्रेक्षासूत्र और संलेखनासूत्र जीवन और मरण के प्रति समुचित दृष्टिकोण को अपनाने के लिए मनुष्य को प्रेरित करता है। आत्म-जागृति की भूमिका में ही अनासक्तता पनपती है। समणसुत्तं का सम्यक्त्वसूत्र आत्म-जागृति के महत्व और उससे उत्पन्न लक्षणों पर प्रकाश डालता है। इस तरह से जागरूकतापूर्वक ज्ञान और आचरण ही व्यक्ति में मूल्यात्मक चेतना को गहरी बनाते हैं और ऐसे ही व्यक्तियों के कारण समाज में मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न होती है।

समणसुत्तं की इन 756 गाथाओं में से ही हमने 170 गाथाओं का चयन 'समणसुत्तं चयनिका' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस चयन का उद्देश्य पाठकों के सामने समणसुत्तं की उन कुछ गाथाओं को प्रस्तुत करना है जो मनुष्यों में सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की चेतना को सघन बना सकें।

गुणात्मक नमस्कार :

समणसुत्तं में पाँच आध्यात्मिक स्तम्भों-अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—का स्मरण किया गया है। उनके प्रति ही नमन किया गया है। यह नमन अवैयक्तिक है, गुणात्मक है। यह वास्तव में गुणों का स्मरण है और उनके प्रति ही नमन है। गुणों के लिए नमस्कार हमारे में गुणात्मक अनुभूति को सघन करता है। यद्यपि गुण व्यक्ति के सहारे ही होते हैं, फिर भी यहाँ व्यक्ति को नमस्कार न करके गुणों को ही नमस्कार किया गया है। व्यक्ति की महानता गुणों के कारण ही होती है, अतः गुणों को नमस्कार करना उचित ही है। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणों की साधना सर्वोपरि साधना कही जा सकती है। ऐसी साधना व्यक्ति के जीवन में सभी दोषों का अन्त कर देती है। इसलिए ऐसा गुणात्मक नमस्कार ही सर्वप्रथम किए जाने योग्य होता है (1, 2)। यदि मनुष्य गुणात्मक दृष्टि अपनाले, तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मानववाद वास्तविकता बन सकता है। अतः यह गुणात्मक नमस्कार मानववाद की ओर एक कदम है। गुणात्मक नमस्कार मनुष्य को गुणानुरागी बना सकता है। जातिवाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद, वंशवाद, व्यक्तिवाद आदि संकुचितताएँ गुणानुरागी होने से समाप्त हो सकती है। पंच नमस्कार की इस महिमा के कारण ही यह कहा गया है कि ये पाँच आध्यात्मिक स्तम्भ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—कल्याणकारी होते हैं, चारों गतियों में शरण देने वाले होते हैं, तथा आराधना के लिए श्रेष्ठ होते हैं (6)। अरहंत आत्मानुभवी हैं, जीवन-मुक्त हैं एवं संसारी प्राणियों के मार्ग-दर्शक हैं (7)। सिद्ध अशरीरी हैं, विदेह-मुक्त हैं तथा केवल आत्मानुभव में ही लीन हैं (8)। आचार्य पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को धारण किए हुए हैं तथा सभी विविध दर्शनों को समझने वाले होते हैं (9)। उपाध्याय अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों का शिक्षण प्रदान करते हैं (10)। साधु शीलवान्, विनयवान् और वैराग्यवान् होते हैं (11)। ओंकार इन्हीं पांचों का संक्षिप्त रूप है (12)। यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यद्यपि एक दृष्टि से सिद्ध विकास-क्रम में अरहंतों से श्रेष्ठ है तो भी अरहंतों को ही सर्वप्रथम नमस्कार क्यों किया गया है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अरहंत परम आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् भी लोक-कल्याण में संलग्न रहते हैं और सिद्ध अशरीरी होने के कारण लोक-कल्याण नहीं कर सकते हैं। चूंकि अरहंत लोकोपकारी होते हैं, इसलिए सर्वप्रथम नमस्कार के योग्य हैं। समाज को दिशा देने वाले अरहंत होते हैं, मूल्यात्मक संस्कृति के वे निर्माता होते हैं, इसलिए उनको सर्वप्रथम नमन किया गया है। यद्यपि अरहंत और सिद्ध आत्मानुभव की दृष्टि से एक ही हैं, फिर भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अरहंत सशरीरी होने के कारण समाज में मूल्यात्मक चेतना के विकास के लिए कटिबद्ध रहते हैं। अरहंत उच्चतम आत्मानुभव और लोक-कल्याण की मूर्ति हैं। अरहंत की प्रतिष्ठा आत्मानुभव और परार्थ-दोनों ही प्रतिष्ठा है। अरहंत की भक्ति केवलज्ञान के साथ लोक-कल्याणात्मक चेतना को अपने में जगाने की प्रक्रिया है। अरहंत और सिद्ध देव हैं, किन्तु अरहंत गुरु भी हैं। देवत्व और गुरुत्व ये दोनों विशेषताएँ अरहंत को सुशोभित करती हैं। अतः अरहंत को सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

गुणात्मक शरण :

हम सभी एक दूसरे के सहारे से जीते हैं। किन्तु, मानसिक शांति के लिये ये सहारे अपर्याप्त होते हैं। अतः अरहंतों, सिद्धों और साधुओं की शरण में जाने की आकांक्षा व्यक्त की गई है (5)। जहां यह सम्भव न हो, वहां आत्मानुभवी की वाणी की शरण उपयोगी हो सकती है (5)। इसीलिए आत्मानुभवी और प्राणियों के मार्ग-दर्शक व्यक्ति की वाणी को प्रणाम किया गया है (13)। किन्तु, ऐसी वाणी का व्याख्याता गुणवान्, गम्भीर, आभायुक्त, सौम्य तथा सिद्धान्त की समझ से युक्त व्यक्ति होना चाहिए (14)। यहां यह जानने योग्य है कि गुणात्मक शरण गुणात्मक अनुभूति की जनक है और गुणियों की खोज में मनुष्य को संलग्न करती है। गुणों की शरण से आत्म-जागृति उत्पन्न होती है। यह निश्चित है कि जो जिसकी शरण में जाता है, वह धीरे धीरे वैसा ही बनने लगता है। वह उसके गुणों को आत्मसात् कर लेता है। जब शरण समर्पण बनती है तो अहं का विसर्जन हो जाता है, जिससे व्यक्तित्व का रूपान्तरण सम्भव होता है। इस प्रकार का व्यक्ति आत्मा के आलोक में जीता है और सदैव लोक-कल्याण में संलग्न रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन का आदर्श :

गुणात्मक नमस्कार और गुणात्मक शरण से यह फलित होता है कि अरहंत-अवस्था और सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति मानव-जीवन का आदर्श है। इसी को समता की प्राप्ति की अवस्था कहा गया है (139)। यह हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से परे क्षोभ-रहित अवस्था है। यही मोहरहित अवस्था है (139)। चारित्र की इसी अवस्था में धर्म अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्त होता है (139)। यहां पर यह समझना चाहिए कि समता की प्राप्ति ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति है, निर्वाण की प्राप्ति है तथा परम आत्मा की प्राप्ति है। समतामय जीवन ही पूर्ण अहिंसा व पूर्ण अनासक्तता का जीवन है (82,84,138)। समता के अभाव में मनुष्य मानसिक तनाव से ग्रसित होता है। इस कारण से उसके कर्म-बन्धन होता है। इस कर्म-बन्धन के फलस्वरूप वह बार-बार जन्म लेता रहा है (23) और उसका मानसिक तनाव बना रहता है। यह मानसिक तनाव कभी शुभ कर्मों में प्रकट होता है और कभी अशुभ कर्मों में। समणसुत्तं का कहना है कि जैसे काले लोहे से बनी हुई बेड़ी व्यक्ति को बांधती है और सोने की बेड़ी भी व्यक्ति को बांधती है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ मानसिक व्यग्रतात्मक शुभ-अशुभ कर्म भी जीव को बाँधता है। इसलिए समणसुत्तं का शिक्षण है कि मानसिक तनाव उत्पन्न करने वाले शुभ-अशुभ कर्मों के साथ बिल्कुल राग मत करो और उनके साथ सम्पर्क भी मत रक्खो, क्योंकि आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव उनके साथ सम्पर्क और उनके साथ राग से व्यर्थ हो जाता है (110)। अनासक्ति का जीवन ही इस मानसिक तनाव का अन्त कर सकता है। इसलिए जिस कारण से अनासक्ति उत्पन्न होती है, वह पूर्ण सावधानी से पालन किया जाना चाहिए। श्रेष्ठ अनासक्त व्यक्ति कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। किन्तु, आसक्त व्यक्ति कर्म-बंधन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का अन्त करने वाला नहीं होता है (37)। जो व्यक्ति आसक्ति से रहित है और आत्मा में एकाग्रचित्त है, वह व्यक्ति स्वभाव से आत्मा को जानता-देखता है और वह निश्चय ही आध्यात्मिक चारित्र (समता) का आचरण करता है (138)। जिस व्यक्ति के लिए सुख-दुःख समान होते हैं, उसमें किसी भी वस्तु के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता है। इसके फलस्वरूप उसमें कर्मों का प्रवेश नहीं होता है (143) सच तो यह है कि ज्ञानी व्यक्ति अकर्म (अनासक्त कर्म) से कर्म-बन्धन को नष्ट कर देते हैं (90)। अतः कहा जा सकता है कि समता की प्राप्ति जीवन का आदर्श है।

जीवन में सार-असार की समझ :

मनुष्य जीवन में जो कुछ करता है, भोगता है, वह उसे सार समझ कर ही करता-भोगता है। इस संसार में जो कुछ वह प्राप्त करता है, उससे न वह पूरी तरह से तृप्त होता है और न ही सदा के लिए सन्तुष्ट। इस तरह से उसकी आशा के विपरीत असार ही उसके हाथ लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह आन्तरिक रूप से व्याकुल ही बना रहता है। अनुभव के परिपक्व होने पर वह यह सोचने को बाध्य हो जाता है कि जैसे केले के पेड़ में कहीं सार नहीं होता है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में कहीं सुख नहीं होता है (19)। इन्द्रिय-भोग क्षणभर के लिए सुखमय तथा बहुत समय के लिए दुःखमय होते हैं, अति दुःखमय और अल्प सुखमय होते हैं (18)। इन्द्रिय-विषयों को भोगना खाज को खुजाने के समान है (20)। उसमें यह विचार पैदा होता है कि बुढ़ापा, बीमारियाँ और मरण—ये सभी दुःखरूप हैं (26)। इच्छाओं की पूर्त्ति करते करते वह समझने लगता है कि इच्छा की पूर्त्ति सुख तो पैदा करती है, पर वह दूसरी इच्छा को जन्म दे जाती है। इस तरह से इच्छा-पूर्त्ति का यह क्रम चलता रहता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अन्तरहित होती हैं (48)। सच तो यह है कि मनुष्यों का मानसिक दुःख इच्छाओं में अत्यासक्ति से उत्पन्न होता है (36)। इतना होने पर भी जब जीवन में सार के दर्शन नहीं होते, तो मनुष्य असार में ही डूबता जाता है और उससे इतना एकीकरण कर लेता है कि उसे असार ही सार के सदृश लगने लगता है। ठीक ही कहा है, जन्म; जरा-मरण से उत्पन्न दुःख (यद्यपि) जाना जाता है, विचारा जाता है, फिर भी विषयों से निर्लिप्त नहीं हुआ जाता है। आश्चर्य ! मनुष्य के द्वारा मूर्च्छा की गांठ दृढ़ बाँधी हुई है (22)। असार में निमग्नता के कारण व्यक्ति की दृष्टि में विपरीतता उत्पन्न हो जाती है। (30)। इस कारण वह इन्द्रियों को ही परम सत्य मानने लग जाता है और देह-दृष्टि में लीन रहता है (31,102)। इसके फलस्वरूप उसकी असार में रुचि दृढ़ हो जाती है। असार में रुचि रखने वाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है, उसे बहिरात्मा भी कहते हैं (31,102)। यह उसकी आत्म-विस्मृति की अवस्था है। आत्म-जागृति ही सार का दर्शन है। समता में रुचि ही सार में रुचि है। यह ही सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) है। सार का दर्शन करने वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होता है, उसे अन्तरात्मा भी कहते हैं (102,117)। यह व्यक्ति देह और आत्मा में भेद करते हुए आत्म-दृष्टि को महत्व देता है (38,102)। अतः समणसुत्तं का शिक्षण है कि शरीर से ममता को दूर हटाओ (38)। सम्यक्त्व का महत्व समझते हुए समणसुत्तं का कहना है कि सम्यक्त्व से रहित व्यक्ति अत्यन्त कठोर तप करते हुए भी अध्यात्म के लाभ को हजारों-करोड़ों वर्षों में भी प्राप्त नहीं करते हैं (118)। जिसके द्वारा आध्यात्मिक जागृति प्राप्त की गई है, वह ही अद्वितीय है, चूंकि वह ही समता को प्राप्त करता है (119)। सार में रुचि। समता में रुचि। आध्यात्मिक जागृति। आत्म-जागृति होने पर असार का महान् संग्रह भी चाहे वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सारा लोक ही क्यों न हो, मनुष्य को आकर्षित नहीं कर पाता है (120)। आध्यात्मिक जागृति व्यक्ति को निर्भय बनाती है। विनश्वर शरीर से एकीकरण भय को जन्म देता है। लोक-भय, परलोक-भय अरक्षा-भय, संयमहीन होने का भय, मृत्यु-भय, वेदना-भय, और अकस्मात्-भय शरीर और मन स्तर पर ही होते हैं। आध्यात्मिक जागृति। आत्म-जागृति होने के पश्चात् शरीर और मन के सहारे होने वाले भय विदा हो जाते हैं (123)। आध्यात्मिक जागृति का जीवन में महत्व होने के कारण ही यह कहा गया है कि जागरूकता अध्यात्म की माता है, इसी से अध्यात्म की वृद्धि और रक्षा होती है (156)। इसलिए कहा गया है कि व्यक्ति जागरूकतापूर्वक चले, जागरूकता-पूर्वक खड़ा रहे, बैठे और सोए, उसी प्रकार बोले और भोजन करे (157)। समणसुत्तं का आह्वान है कि हे मनुष्यों ! तुम निरन्तर जागो (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग रहो), जागते हुए (आध्यात्मिक) मूल्यों में सजग (व्यक्ति) की प्रतिभा बढ़ती है, जो व्यक्ति सोता है (आध्यात्मिक मूल्यों को भूला हुआ है),वह सुखी नहीं होता है जो सदा जागता है (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग है) वह सुखी होता है (92)। समणसुत्तं का दृढ़ विश्वास प्रतीत होता है कि सोते हुए (आध्यात्मिक मूल्यों को भूले हुए) व्यक्तियों के लोकातीत परमार्थ और लोक में सर्वोत्तम प्रयोजन– दोनों ही नष्ट हो जाते हैं (87)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समता में रूचि ही सम्यग्दर्शन है जो समता में रूचि है वही आध्यात्मिक जागृति है। समता जीवन का सार है, यही जीवन आ आदर्श है। जो निषेधात्मक दृष्टि से पूर्ण तनाव-मुक्ति है, वही स्वीकारात्मक दृष्टि से पूर्ण समता की प्राप्ति है। अतः पूर्ण समता की प्राप्ति में रुचि को सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। इससे शाश्वत आत्मा में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यहाँ यह समझना चाहिए कि सार में रुचि होने पर सार-असार की समझ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गहरी और स्पष्ट होती है। यही सम्यक्ज्ञान है। कर्म-रज से मुक्त होने के लिए राग से छुटकारा पाने के लिए, चित्त को संयमित करने के लिए, सद्गुणों में अनुरक्त होने के लिए तथा जीवों से मैत्री उत्पन्न करने के लिए ज्ञान मनुष्य को प्रेरित करता है (129,130)। ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से सब कर्मों का नाश होता है, कर्मों के नाश का फल परम शान्ति है, इसलिए ज्ञान का अभ्यास किया जाना चाहिए (158)। समणसुत्तं के अनुसार जो आत्मा को न बँधी हुई और न कर्मों के द्वारा मलिन की हुई समझता है, जो इसके अनुभव को अद्वितीय समझता है, जो इसको अंतरंगरूप से भेदरहित समझता है, जो इसको क्षेत्ररहित, परिभाषारहित, तथा मध्यरहित समझता है वह जिन-शासन को समझता है (131)। यह आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित तथा शब्दरहित होता है; चेतना उसका गुण है, वह अदृश्यमान रहता है (105)। वह अनुभव से ही जाना जाता है। अतः समणसुत्तं का शिक्षण है कि व्यक्ति आत्म-ज्ञान में ही संलग्न रहे, इसमें ही सदा सन्तुष्ट हो, इससे ही तृप्त हो (132)। जैसे कोई व्यक्ति परोपकार के द्वारा यशरूपी निधि को प्राप्त करके उसके फल को अनुभव करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पर से तृप्ति की आदत को त्यागकर आत्म-ज्ञानरूपी निधि के फल को अनुभव करता है (133)। यहाँ यह समझना चाहिए कि आत्मा में रागादि का उत्पन्न न होना अहिंसकता है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है (82)। इस तरह से आत्मा ही अहिंसा है (84)।

साधना की भूमिका :

मनुष्य में सम्यक्ज्ञान के उदय होने पर उसे ज्ञात होता है कि विविधताओं से भरे हुए इस जगत् में प्रत्येक आत्मा (जीव) अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं ही होता है। वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। न जीता हुआ आत्मा ही स्वयं का शत्रु होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है । थोड़ा विस्तार से कहा जाय तो कषाएँ और इन्द्रिय-विषयासक्ति ही स्वयं की शत्रु होती है। (62)। इस तरह से अशुभ में स्थित आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है और शुभ में स्थित आत्मा अपना ही मित्र है (61)। सुख-दुःख के मूल में आत्मा (जीव) के द्वारा किए हुए अपने कर्म हैं, जिन्हें वह स्वाधीनतापूर्वक चुनता है, किन्तु उनका फल भोगते समय वह (हुए कर्म-बन्धन के कारण) पराधीन हो जाता है, जैसे कि जब कोई पेड़ पर चढ़ता है तो स्वाधीन होता है, किन्तु जब वह उससे गिरता है तो पराधीन हो जाता है (28)। जीव के कर्मों का बन्धन भावानुसार होता है (27)। इसलिए कहा गया है कि यदि कोई प्राणियों की हिंसा करे या न भी कर पाये तो भी हिंसा के भाव से ही कर्म का बन्धन हो जाता है। यही कर्म-बन्ध का संक्षेप्त है (83)। अतः समणसुत्तं का शिक्षण है कि व्यक्ति अंतरंग राग-द्वेष से ही युद्ध करे, जगत् में बाह्य व्यक्तियों से युद्ध करने से क्या लाभ है? (64)। यह सच है कि आत्मा (मन) को वश में (संयमित) करना अत्यन्त कठिन है, तो भी यह उचित है कि आत्मा (मन) ही वश में (संयमित) किया जाना चाहिए (65) जो व्यक्ति कठिनाई से जीते जाने वाले संग्राम में हजारों के द्वारा हजारों को जीते और जो एक स्व को जीते तो उसकी यह स्व पर जीत परम विजय है (63), इससे जीवन में सुख की वृद्धि होती है। यहाँ यह समझना चाहिए कि जैसे थोड़ा सा ऋण, थोड़ा सा घाव तथा थोड़ी सी अग्नि कष्टदायक होती है, उसी प्रकार थोड़ी सी कषाय (राग-द्वेष) दुःख दे जाता है। उसे थोड़ा सा समझकर उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए (69)।

जीवन में विकास, ज्ञान और चारित्र के सम्मिलित प्रयास से ही संभव है। जो चारित्र के बिना ज्ञान का अभ्यास करता है, जो मन की एकाग्रता के बिना तपस्या करता है, वह सब उस व्यक्ति के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निरर्थक होता है (113)। अनाध्यात्मवादी के जीवन में (सम्यक्) ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। (सम्यक्) ज्ञान के बिना चारित्र में विशिष्टताएँ उत्पन्न नहीं होती हैं। चारित्र-रहित व्यक्ति के लिए कर्मों से छुटकारा संभव नहीं है और कर्मों से छुटकारे-रहित व्यक्ति के लिए जीवन में समता घटित नहीं होती है (114)। सच है कि क्रिया-हीन (चारित्र-हीन) ज्ञान निकम्मा होता है, तथा अज्ञान से की हुई क्रिया भी निकम्मी होती है। प्रसिद्ध है कि आंख से देखता हुआ लंगड़ा व्यक्ति आग से भस्म हुआ और पंरों से दौड़ता हुआ भी अन्धा व्यक्ति आग से भस्म हुआ (115)। अतः ज्ञान और क्रिया (चारित्र) का संयोग सिद्ध होने पर फल प्राप्त होता है क्योंकि ज्ञान अथवा क्रियारूपी एक पहिए से साधनारूपी रथ नहीं चलता है। जब अंधा और लंगड़ा दोनों जंगल में मिले तो आग से बचकर नगर में गए (116)। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्र के संयोग से ही मनुष्य साधना मार्ग पर आगे बढता है। व्यक्ति के जीवन में सत्क्रिया (चारित्र) के अभाव के कारण ही ज्ञान चाही गई शांति को प्राप्त कराने वाला नहीं होता है, जैसे कि ज्ञान-मार्ग के जानकार व्यक्ति को जो प्रयत्न-रहित होता है इच्छित स्थान की ओर ले जाने वाला नहीं होता है या जैसे कि वायुरहित नौका व्यक्ति को इच्छित स्थान की ओर ले जाने वाली नहीं होती है (134)। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानपूर्वक चारित्र ही श्रेष्ठ होता है और चारित्र सहित ज्ञान ही कार्यकारी होता है।

यहां यह समझना चाहिए कि ज्ञान एक शब्दातीत समझ है, उसका शब्दों की शिक्षा और शब्द-प्रयोग में प्रवीणता से कोई विशेष संबंध नहीं है। इसीलिए कहा है कि जो चारित्र-युक्त है, वह अल्प शिक्षित होने पर भी विद्वान् को मात कर देता है, किन्तु जो चारित्र-हीन है उसके लिए बहुत विद्वान् होने से भी क्या लाभ है, (136) ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रहीन व्यक्ति का कोरा विद्वान् होना क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा ? जैसे कि अन्धे व्यक्ति के द्वारा जलाए गए भी लाखों-करोड़ों दीपक उसके लिए क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे (135) ? अतः कहा गया है कि चारित्र ही धर्म है (139)। इसलिए जब तक किसी को बुढापा नहीं सताता है, जब तक किसी को रोग नहीं बढता है, जब तक किसी कि इन्द्रियां क्षीण नहीं होती है तब तक उसको धर्म (नैतिक-आध्यात्मिक चारित्र) का आचरण कर लेना चाहिए (152)। चारित्र का प्रभाव जीवन में गहरा होता है। इसलिए जैसे धागे-युक्त सूई कूड़े में पड़ी हुई भी नहीं खोती है, वैसे ही संसार में स्थित भी नियम-युक्त (चारित्र-युक्त) व्यक्ति बर्बाद नहीं होता है (128)। जरा-मरण के प्रवाह के द्वारा बहा कर ले जाते हुए मनुष्यों के लिए धर्म (चारित्र) टापू (आश्रय गृह) (है), सहारा (है), रक्षास्थल (है) तथा उत्तम शरण (है) (163)।

सदाचरण का सार :

मनुष्य समाज में रहता है। विभिन्न मनुष्यों और प्राणियों के बीच ही उसके आचरण की परीक्षा होती है। प्रश्न यह है कि आचरण कैसा किया जाए। समणसुत्तं का शिक्षण है कि तुम स्वयं से स्वयं के लिए जो कुछ चाहते हो और तुम स्वयं से स्वयं के लिए जो कुछ नहीं चाहते हो, क्रमशः उसको तुम दूसरों के लिए चाहो और न चाहो (15)। जैसे तुम्हारे अपने लिए दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार दूसरे सब जीवों के लिए जानकर उचित रूप से सब जीवों से स्नेह करो तथा अपने से तुलना के द्वारा उनके प्रति सहानुभूति रक्खो (79)। हिंसा से बचने के लिए समणसुत्तं का शिक्षण है कि तू वह ही है जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है। तू वह ही है जिसको तू शासित किए जाने योग्य मानता है (81)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधना का मार्ग व उपलब्धि :

सर्व प्रथम यह समझना चाहिए कि अहंकारी, क्रोध, प्रमादी, रोगी और आलसी (साधना) की शिक्षा के योग्य नहीं होते है, (94) किन्तु जो शुभ प्रवृत्ति वाला है, जो स्नेहशील है, जो दूसरों की भलाई करने वाला है, जो मधुर बोलने वाला है, वह (साधना की) शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है (98)। साधना में क्रियाशील होने के लिए संयम में प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति आवश्यक है (67)। साधक के द्वारा शुभ कर्म से अशुभ कर्म रोका जाना चाहिए तथा आत्मानुभव से शुभ कर्म भी रोका जाना चाहिए। इसी क्रम से साधक आगे बढे (146)। साधना में वास्तविकता आन्तरिक शुद्धि से प्रकट होती है। आन्तरिक शुद्धि से बाह्य शुद्धि भी आवश्यक रूप से होती है। आन्तरिक अशुद्धि से ही मनुष्य बाह्य दोषों को करता है। (144)। कामुकता, अहंकार, मायाचार और लोभ से रहित व्यक्ति के भावों में निर्मलता होती है (145)। साधना के लिए त्यागमय जीवन आवश्यक है। जो संसार, शरीर तथा इन्द्रिय-विषय की नश्वरता का चिन्तन करता है उस व्यक्ति के जीवन में त्याग घटित होता है (51)। जो प्राप्त किए गए मनोहर और प्रिय भोगों को पीठ करता है तथा स्व. अधीन भोगों को छोड़ता है वही त्यागी है (52)। इसके लिए इन्द्रियों का संयम किया जाना चाहिए। जैसे हाथी के लिए अंकुश है तथा नगर के लिए खाई है, वैसे ही इन्द्रियों का संयम करने के लिए परिग्रह का त्याग है (76)। जैसे लगाम के द्वारा घोड़े रोके जाते हैं, उसी प्रकार तपस्या से इन्द्रिय-विषय और कषाएँ रोकी जाती हैं (68)।

अनासक्ति के अभ्यास से साधना में सरलता होती है। साधक सोचे कि वह परमार्थतः सर्वोच्च और शुद्ध आत्मा है। अतः परमाणु मात्र भी वस्तु उसकी नहीं है (53)। जो ममता वाली-वस्तु-बुद्धि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़ता है, वह ममता वाली वस्तु को छोड़ता है; जिसके लिए कोई ममता वाली वस्तु नहीं है। वह ही ऐसा ज्ञानी है जिसके द्वारा अध्यात्म-पथ जाना गया है (74)। सर्व परिग्रह से रहित व्यक्ति सदा शान्त और प्रसन्नचित्त होता है (75)। जिसके जीवन में आसक्ति नहीं होती है, उसके द्वारा दुःख नष्ट कर दिया गया है, जिसके जीवन में तृष्णा नहीं होती है, उसके द्वारा आसक्ति नष्ट कर दी गई है; जिसके जीवन में लोभ नहीं होता है, उसके द्वारा तृष्णा नष्ट की गई है; जिसके पास कुछ भी वस्तुएँ नहीं हैं, उसके द्वारा लोभ नष्ट किया गया है (56)। जिनके लिए कुछ भी अपना नहीं है, वे सुखपूर्वक रहते हैं। राजा जनक ने कहा था कि जलाई जाती हुई मिथिला में उसका कुछ भी नहीं जलाया जाता है (54)। सच यह है कि वस्तु-जगत् से विरक्त मनुष्य दुःख रहित होता है, संसार के मध्य में विद्यमान भी वह दुःख से मलिन नहीं किया जाता है, जैसे कमलिनी का पत्ता जल से मलिन नहीं किया जाता है (39)। सभी मनुष्यों का जो कुछ भी मानसिक दुःख है, वह इच्छाओं में अत्यासक्ति से उत्पन्न होता है, किन्तु वीतराग उसका नाश कर देता है (36)। इसलिए जिस कारण से अनासक्ति उत्पन्न होती है, वह पूर्ण सावधानी से पालन किया जाना चाहिए। श्रेष्ठ अनासक्त व्यक्ति कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। आसक्त व्यक्ति कर्म-बन्धन का अन्त करने वाला नहीं होता है (37)।

जीवन में सद्गुणों का विकास भी साधना के लिए अनिवार्य है। सचमुच ज्ञानी होने का यही सार है कि ज्ञानी किसी की भी हिंसा नहीं करता है (77)। सब ही जीव जीने की इच्छा करते हैं, मरने की नहीं, इसलिए संयत व्यक्ति पीड़ादायक प्राणवध का परित्याग करते हैं (78)। जैसे जगत् में मेरु पर्वत से ऊँचा कुछ नहीं है, और आकाश से विस्तृत भी कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान जगत्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में श्रेष्ठ और व्यापक धर्म नहीं है (85)। जो अप्रमादी होता है, वह अहिंसक होता है, जो प्रमादी होता है, वह हिंसक होता है (84)। जैसे तुम्हारे अपने लिए दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार दूसरे सब जीवों के लिए जानकर उचित रूप से सब जीवों से स्नेह करो तथा अपने से तुलना के द्वारा उनके प्रति सहानुभूति रक्खो (79)। जीव का घात खुद का घात होता है, जीव के लिए दया खुद के लिए दया होती है; उस कारण से आत्म-स्वरूप को चाहने वालों के द्वारा सब जीवों की हिंसा छोड़ी हुई है (80)। हिंसा से बचने के लिए समणसुत्तं का शिक्षण है कि तू वह ही है जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है। तू वही है जिसको तू शासित किए जाने योग्य मानता है। (81)। जैसे जल में उत्पन्न कमल पानी से नहीं लीपा जाता है, उसी प्रकार इच्छाओं के द्वारा जो व्यक्ति नहीं लीपा जाता हैं, उसको हम अहिंसक कहते हैं (55)। आत्मा में रागादि का उत्पन्न न होना अहिंसा है। उनकी उत्पत्ति हिंसा है (82)। अहिंसा के साथ सत्य बोलने का अभ्यास भी महत्वपूर्ण है। जो पर में दुःख-जनक मानसिक स्थिति का कारण है, उस वचन को छोड़कर जो साधु या श्रावक स्व-पर के लिए हितकारक वचन बोलता है उसके जीवन में सत्य होता है (45)। सत्यवक्ता मनुष्य-लोक में माता की तरह विश्वसनीय, गुरु की तरह पूज्य तथा स्वजन की तरह सबका प्रिय होता है (46)। सत्य बोलने में तप होता है, सत्य बोलने में संयम होता है, सत्य बोलना ही सब सद्गुणों का आधार होता है, जैसे मछलियों के लिए आधार जल का भंडार होता है (47)। जैसे एक ओर अहिंसा और सत्य वचन का अभ्यास सद्गुणों के विकास के लिए आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर कामुकता, क्रोध, लोभ और कुटिलता का त्याग भी व्यक्ति को सद्गुणी बनाता है। यदि व्यक्ति कामासक्ति को पार करके समाज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में जीता है, तो उसकी शेष आसक्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं। सच है, महासागर को पार करके जो बाहर आया है, उसके लिए गंगा के समान नदियों को भी पार करना सरल हो जाता है (57)। मनुष्यों, देवों और पशुओं द्वारा किए हुए भीषण उपसर्ग के अवसर पर भी जो क्रोध के द्वारा तपाया नहीं जाता है, उस व्यक्ति के जीवन में निर्मल क्षमा होती है (42)। लोभी मनुष्य के लिए कदाचित् कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी हो जाएँ, तो भी उनके द्वारा उसकी कुछ भी तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अन्तरहित होती है (48)। जो पूर्ण संतोषरूपी जल से तीव्र लोभरूपी मल-समूह को धोता है, तो उस व्यक्ति के जीवन में निर्मल शौचधर्म होता है (49)। जो व्यक्ति कुटिल बात नहीं सोचता है, कुटिल कार्य नहीं करता है, कुटिल वचन नहीं बोलता है तथा जो निज दोष को नहीं छुपाता है, उसके जीवन में आर्जव (सरलता) धर्म होता है (44)। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि साधक के जीवन में विनय का महत्व है। अविनीत के जीवन में अनर्थ होता है और विनीत के जीवन में समृद्धि होती है। इस बात को समझकर साधक विनय को ग्रहण करता है (93)। बौद्धिक उदारता व्यक्ति को संकुचित होने से बचाती है। इसके द्वारा व्यक्ति सत्य के विभिन्न पक्षों को विभिन्न दृष्टियों से देख सकता है। विभिन्न दृष्टियों से वस्तु को समझना अनेकान्तवाद है (166)। यह सिद्धान्त साधक के लिए विभिन्न धर्मों में निहित सत्य को समझने में सहायक होता है। अपने में सेवा के सद्गुण को विकसित करने के लिए साधक को आहार-दान, औषध-दान शास्त्र-दान तथा अभय-दान देना चाहिए। यह दान गृहस्थ की विशेषता है। साधक को समझना चाहिए कि क्रोध प्रेम को नष्ट करता है, अहंकार विनय का नाशक होता है, कपट मित्रों को दूर हटाता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और लोभ सब गुणों का विनाशक होता है (70)। अतः समणसुत्तं का कहना है कि साधक क्षमा से क्रोध को नष्ट करें; विनय से अहं-कार को जीते, सरलता से कपट को तथा संतोष से लोभ को जीते (71)।

साधना में दृढ़ता लाने के लिए आहार, आसन और निद्रा पर विजय प्राप्त करना चाहिए (147)। साधक परिमित एवं ग्रहण करने योग्य आहार को चाहे (149)। जो साधक साधना के लिए हितकारी आहार से, हितकारी में भी सीमित आहार से और सीमित में भी अल्प आहार से सन्तुष्ट होते हैं, उनको चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वे अपने मन के ही चिकित्सक होते हैं (150)। विकृतियों से रहित आवास के कारण तथा नियन्त्रित आसन के कारण, अल्प मात्रा में आहार करने के कारण और संयमित की हुई इन्द्रियों के कारण आसक्तिरूपी शत्रु साधक के मन को विचलित नहीं करता है, जैसे औषधियों द्वारा नष्ट किया हुआ व्याधिरूपी शत्रु व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करता है (151)।

ध्यान और स्वाध्याय से साधना आगे बढ़ती है और पूर्णता तक पहुँच जाती है। साधकों द्वारा बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के द्वारा परम आत्मा ध्याया जाता है (104)। इन्द्रिय-भोग तथा कषायों में संयम-भाव को धारण करके जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा का चिंतन करता है, उसके जीवन में नियम से तप होता है (50)। जैसे लगाम के द्वारा घोड़े रोके जाते हैं, वैसे ही ज्ञान से, ध्यान से और तपस्या की शक्ति से इन्द्रिय-विषय और कषाएँ दृढ़ता-पूर्वक रोकी जाती है (68)। जो व्यक्ति नैतिक-आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके श्रुत-साधना में संलग्न होता है, वह मूल्यात्मक ज्ञान को प्राप्त करता है तथा एकाग्रचित्तवाला होता है और वह स्वयं मूल्यों में जमा हुआ रहता है और दूसरों को भी मूल्यों में जमाता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(97)। जैसे-जैसे ज्ञानी असाधारण आध्यात्मिक ज्ञान में लीन होता है, वैसे वैसे नये-नये प्रकार की अनासक्ति की स्थितियों के अनुभव से आनन्दित होता है (127)। जैसे जल के संयोग होने पर लवण विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त ध्यान में विलीन हो जाता है, उसके जीवन में शुभ-अशुभ कर्म को भस्म करने वाली आत्मानुभवरूपी अग्नि प्रकट होती है (160)। जैसे दीर्घकाल तक संचित ईंधन को पवन-सहित अग्नि तुरन्त भस्म कर देती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर देती है (162)। ध्यानी चित्त कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, निराशा, अफसोस आदि मानसिक तनावों द्वारा परेशान नहीं किया जाता है (161)। समणसुत्तं का शिक्षण है कि आत्मा को गुरु-कृपा से समझकर ध्यायी जानी चाहिए (147)। गुरु और अनुभवी की सेवा, विकृत बुद्धि वाले व्यक्ति का पूर्णरूप से त्याग, स्वाध्याय और एकान्तवास, सूत्र के अर्थ का सम्यक् चिन्तन तथा धैर्य—ये सब समता की प्राप्ति में साधन हैं (148)। यहाँ यह समझना चाहिए कि बिना आध्यात्मिक गुरु के ध्यान में प्रगति नहीं होती है। किन्तु, जिसकी गुरु में भक्ति नहीं है, जिसका गुरु के प्रति अतिशय आदर नहीं है तथा जिसको उससे प्रेम नहीं है, उसको अन्धकार में मार्ग मिलना कठिन है (17)। साधकों के लिए समणसुत्तं का शिक्षण है : हे साधक ! यदि तू सर्वोत्तम अस्तित्व (समतामय जीवन) को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तो प्रशंसा, आदर, सांसारिक लाभ, आतिथ्य आदि की कामना क्यों करता है ? क्या इनके द्वारा तेरे लिए सर्वोत्तम अस्तित्व में प्रवेश हो सकेगा (124) ? ध्यान की पूर्णता होने पर व्यक्ति अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेता है। वह शुद्धोपयोगी बन जाता है (141)। वह सम्पूर्ण आसक्ति से रहित होता है (138, 140)। उसके लिए सुख-दुःख समान होते हैं (140)। उसका सुख श्रेष्ठ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त तथा अविच्छिन्न होता है (142)। उसे हम समतावान, द्वन्द्वातीत, केवलज्ञानी, आत्मानुभवी आदि नामों से संबोधित कर सकते हैं।

समणसुत्तं-चयनिका के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समण-सुत्तं में जीवन के मूल्यात्मक पक्ष की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। इसी विशेषता से प्रभावित होकर यह चयन (समणसुत्तं चयनिका) पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। गाथाओं के हिन्दी अनुवाद को मूलानुगामी बनाने का प्रयास किया गया है। यह दृष्टि रही है कि अनुवाद पढ़ने से ही शब्दों की विभक्तियों एवं उनके अर्थ समझ में आजाएँ। अनुवाद को प्रवाहमय बनाने की भी इच्छा रही है। कहाँ तक सफलता मिली है, इसको तो पाठक ही बता सकेंगे। अनुवाद के अतिरिक्त गाथाओं का व्याकरणिक विश्ले-षण भी प्रस्तुत किया गया है। इस विश्लेषण में जिन संकेतों का प्रयोग किया गया है, उनको संकेत-सूची में देख कर समझा जा सकता है। यह आशा की जाती है कि प्राकृत को व्यवस्थित रूप से सीखने में सहायता मिलेगी तथा व्याकरण के विभिन्न नियम सहज में ही सीखे जा सकेंगे। यह सर्व विदित है कि किसी भी भाषा को सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है। प्रस्तुत गाथाओं एवं उनके व्याकरणिक विश्लेषण से व्याकरण के साथ-साथ शब्दों के प्रयोग भी सीखने में मदद मिलेगी। शब्दों की व्याकरण और उनका अर्थपूर्ण प्रयोग दोनों ही भाषा सीखने के आधार होते हैं। अनुवाद एवं व्याकरणिक विश्लेषण जैसा भी बन पाया है, पाठकों के समक्ष है। पाठकों के सुझाव मेरे लिए बहुत ही काम के होंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आभार

भगवान् महावीर के 25 सौवें निर्वाण-पर्व के अवसर पर समग्र जैन समाज सम्मत 'समणसुत्तं' नामक ग्रंथ की निष्पत्ति हुई। इस "ग्रंथ की निष्पत्ति के पीछे भगवान् महावीर की अव्यक्त और सन्त विनोबाजी की व्यक्त पावन प्रेरणा रही है।" समणसुत्तं-चयनिका के लिए यही ग्रन्थ आधार बना है। अतः इसके प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, वाराणसी का आभार व्यक्त करता हूँ। इसका प्रकाशन 24 अप्रेल, 1975 को हुआ था।

डॉ. नेमिचन्द जैन द्वारा सम्पादित तीर्थंकर के (सितम्बर, 1981 से दिसम्बर 1982 तक) अंकों में समणसुत्तं चयनिका के प्रथम संस्करण का प्रकाशन हुआ है। तीर्थंकर के मार्च 1983 के अंक में 'समणसुत्तं चयनिका : कुछ चुनी हुई वाक्य-मणियाँ' प्रकाशित की गईं। अतः चयनिका और वाक्य-मणियों के प्रकाशन के लिए 'तीर्थंकर' के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

तीर्थंकर में प्रकाशित 'समणसुत्तं-चयनिका' के हिन्दी अनुवाद और व्याकरणिक विश्लेषण को डॉ. के.आर. चन्द्र, (अध्यक्ष, पालि एवं प्राकृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद) ने पढ़कर कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। उन्होंने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने की स्वीकृति प्रदान की। अतः मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

श्री एस. एन. जोशी, (सहायक-प्रोफेसर, अंग्रेजी-विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर) ने इसके अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर कई सुझाव दिए। अतः मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

मेरे विद्यार्थी डॉ. श्यामराव व्यास, सहायक प्रोफेसर, दर्शन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद एवं उसकी प्रस्तावना को पढ़कर उपयोगी सुझाव दिए। डॉ. हुकमचन्द जैन (जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर) तथा डॉ. सुभाष कोठारी एवं श्री सुरेश सिसोदिया आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर) के सहयोग के लिए भी आभारी हूँ।

मेरी धर्म-पत्नी श्रीमती कमला देवी सोगाणी ने इस पुस्तक की गाथाओं का मूल ग्रन्थ से सहर्ष मिलान किया है। इसके लिए आभार प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिये राजस्थान प्राकृत-भारती संस्थान, जयपुर के सचिव, श्री देवेन्द्रराजजी मेहता तथा संयुक्त-सचिव एवं निदेशक, महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने जो व्यवस्था की है, उसके लिए उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

प्रोफेसर दर्शन-विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान) 19-11-87

कमलचंद सोगाणी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणसुत्तं - चयनिका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणसुत्तं - चयनिका

1 णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

2 एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

3-5 अरहंता मंगलं । सिद्धा मंगलं । साहू मंगलं ।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।।
अरहंता लोगुत्तमा । सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा ।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।।
अरहंते सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि ।
साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।।

6 झायहि पंच वि गुरवे, मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णर - सुर - खेयर - महिए, आराहणणायगे वीरे ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणसुत्तं - चयनिका

1. अरहंतों को नमस्कार। सिद्धों को नमस्कार। आचार्यों को नमस्कार। उपाध्यायों को नमस्कार। लोक में सब साधुओं को नमस्कार।

2. यह पंच-नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला (है), और (इस कारण से यह) सब मंगलों में प्रथम मंगल होता है।

3-5. अरहंत मंगल (हैं)। सिद्ध मंगल (हैं)। साधु मंगल (हैं)। केवली द्वारा उपदिष्ट धर्म मंगल (है)।
अरहंत लोक में उत्तम (हैं)। सिद्ध लोक में उत्तम (हैं)। साधु लोक में उत्तम (हैं)। केवली द्वारा उपदिष्ट धर्म लोक में उत्तम (है)।
(मैं) अरहंतों की शरण में जाता हूँ। (मैं) सिद्धों की शरण में जाता हूँ। (मैं) साधुओं की शरण में जाता हूँ। (मैं) केवली द्वारा उपदिष्ट धर्म की शरण में जाता हूँ।

6. कल्याणकारी, चारों (गतियों में) शरण देने वाले, लोक को विभूषित किए हुए (करने वाले), मनुष्यों, देवताओं तथा विद्याधरों[1] द्वारा पूजित, आराधना के लिए श्रेष्ठ (तथा) वीर (ऊर्ध्वगामी ऊर्जा वाले)—(इन) पाँच गुरुओं अर्थात् आध्यात्मिक स्तम्भों को ही (तुम) ध्याओ।

---

1. विद्या के बल से आकाश में विचरण करने वाले मनुष्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7 घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तंडा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ।।

8 अट्ठावहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।

9 पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ।।

10 अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ।।

11 थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. प्रगाढ़ घातीकर्मों[1] के विनाशक, अनन्तज्ञानी, अनुपम सुख (मय) (तथा) त्रिभुवन में विद्यमान मुक्तिगामी जीवरूपी कमलों (के विकास) के लिए सूर्यरूपी अरहंत जगत् में जयवंत हों।

8. सिद्ध (जो) आठ प्रकार के कर्मों से रहित (हैं), (जिनके द्वारा) (सभी) प्रयोजन पूर्ण किए हुए (हैं), (जिनके द्वारा) संसार-चक्र नाश को प्राप्त हुए (हैं), (तथा) (जिनके द्वारा) समग्र तत्वों के सार जाने गए (हैं), (वे) मेरे लिए निर्वाण-(मार्ग) को दिखलावें।

9. पाँच महाव्रतों से उन्नत, उस समय संबंधी अर्थात् समकालीन स्व-पर सिद्धान्त के श्रुत को धारण करने वाले (तथा) अनेक प्रकार के गुण-समूह से पूर्ण आचार्य मेरे लिए मंगलप्रद हों।

10. (जिस अज्ञान रूपी अंधकार के) छोर पर पहुँचना कठिन (है), (उस) अज्ञानरूपी घने अन्धकार में भ्रमण करते हुए संसारी (जीवों) के लिए (ज्ञानरूपी) प्रकाश को करने वाले उपाध्याय (मुझे) श्रेष्ठ मति प्रदान करें।

11. साधु (जो) यश-समूह से पूर्ण (हैं), (जिनके द्वारा) शील-रूपी मालाएँ दृढ़तापूर्वक धारण की गई (हैं), (जिनके द्वारा) राग दूर किए गए (हैं) (तथा जिनके द्वारा) शरीर के अंग प्रचुर विनय से अलंकृत हुए (हैं), (वे) मुझे (अनेक) सुख प्रदान करें।

---

1. आत्म-स्वरूप को आच्छादित करने वाले कर्म।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12 अरिहंता, असरीरा, आयरिया, उवज्झाय मुणिणो ।
पंचक्खरनिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमिट्ठी ।।

13 अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोदहिं सिरसा ।।

14 ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ।।

15 जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ।।

16 आसासो वीसासो, सीयघरसमो य होइ मा भाहि ।
अम्मापितिसमाणो, संघो सरणं तु सव्वेसिं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12. अरिहंत, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय (तथा) मुनि— ये पंच परमेष्ठी अर्थात् पाँच आध्यात्मिक स्तम्भ (हैं)। (इनके प्रथम) पाँच अक्षरों (अ+अ+आ+उ+म) से निकला हुआ 'ओम्' (होता है)।

13. (जो) अरहंत द्वारा प्रतिपादित अर्थ गणधर[1] देवों द्वारा (शब्द-रूप में) भली प्रकार से रचा हुआ (है), (उस) श्रुत-ज्ञानरूपी महासमुद्र को भक्ति-सहित (मैं) सिर से प्रणाम करता हूँ।

14. (जो) स्व-सिद्धान्त तथा पर-सिद्धान्त का ज्ञाता (है), (जो) सैंकड़ों गुणों से युक्त (है), (जो) गंभीर, आभायुक्त, सौम्य (तथा) कल्याणकारी (है), (वह ही) (अरहंत के द्वारा प्रतिपादित) सिद्धान्त के सार को कहने के लिए योग्य (होता है)।

15. (तुम) स्वयं से (स्वयं के लिए) जो कुछ चाहते हो और (तुम) स्वयं से (स्वयं के लिए) जो कुछ नहीं चाहते हो, (क्रमशः) उसको (तुम) दूसरे के लिए चाहो और (न चाहो); इतना ही जिन-शासन (है)।

16. (श्रमण) संघ तो सब (प्राणियों) के लिए शरण, तसल्ली (और) भरोसा (होता है), शीतल घर के समान (शान्ति-दायक) तथा माता-पिता के समान (प्रेम करने वाला) होता है। (अतः) तुम डरो मत।

---

1. अरहंत के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को शब्द-बद्ध करने वाले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

17 जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं ।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ? ।।

18 खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।

19 सुट्ठुवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलोइ नत्थि जह सारो ।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ।।

20 जह कच्छुल्लो कच्छुं कंडयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ।।

21 भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।।

22 जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगंठी ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

17. जिसकी गुरु में भक्ति नहीं (है) तथा (जिसका गुरु के प्रति) अतिशय आदर नहीं (है) (और) गौरव-भाव नहीं (है) तथा (जिसको गुरु से) भय नहीं (है), लज्जा नहीं (है) और प्रेम नहीं है, उसका गुरु के सान्निध्य में रहने से क्या लाभ है ?

18. इन्द्रिय-भोग निश्चय ही अनर्थों की खान (होते हैं); क्षण भर के लिए सुखमय (तथा) बहुत समय के लिए दुःखमय (होते हैं); अति दुःखमय (तथा) अल्प सुखमय (होते हैं); (वे) संसार–(सुख) और मोक्ष–(सुख) (दोनों) के विरोधी बने हुए (हैं)।

19. खूब अच्छी प्रकार से खोजे जाते हुए भी जैसे केले के पेड़ में कहीं सार नहीं (होता है), वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं (होता है), यद्यपि (वह) (वहाँ) खूब अच्छी प्रकार से खोजा हुआ (होता है)।

20. जैसे खाज–रोगवाला खाज को खुजाता हुआ दुःख को सुख मानता है, वैसे ही मोह–(रोग) से पीड़ित मनुष्य इच्छा (से उत्पन्न) दुःख को सुख कहते हैं।

21. अज्ञानी, मन्द और मूढ (व्यक्ति) (जो) भोग की लालसा के दोष में डूबा हुआ (हैं), जिसकी (स्व-पर) कल्याण तथा अभ्युदय में विपरीत बुद्धि (है), (वह) (अशुभ कर्मों के द्वारा) बाँधा जाता है, जैसे कफ के द्वारा मक्खी (बाँधी जाती है)।

22. जन्म, जरा, मरण से खूब उत्पन्न दुःख (यद्यपि) जाना जाता है, विचारा जाता है, फिर भी विषयों से निर्लिप्त नहीं हुआ जाता है। आश्चर्य ! कपट (मूर्च्छा) की गाँठ दृढ़ बाँधी हुई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

23 जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।

24 गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो वा दोसो वा ।।

25 जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।

26 जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतवो ।

27 जं जं समयं जीवो आविसइ जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ।।

28 कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

23. जो जीव सचमुच संसार (मानसिक तनाव) में स्थित (होता है), (उसमें) उस कारण से ही (अशुद्ध) भाव-(समूह) उत्पन्न होता है। (अशुद्ध) भाव-(समूह) से कर्म (उत्पन्न होता है) और कर्म से गतियों में गमन होता है।

24. (किसी भी) गति में गए हुए जीव से देह (उत्पन्न होता है); देह से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उनके (इन्द्रियों के) द्वारा ही विषयों का ग्रहण (होता है)। (और) उस कारण से (जीव में) राग और द्वेष (उत्पन्न होता है)।

25. इस प्रकार जीव के आवागमन के समय (उसमें) मनोभाव-(समूह) उत्पन्न होता है (जो) या (तो) आदि और अन्तरहित (होता है) या अन्त-सहित होता है। यह अर्हन्तों द्वारा कहा गया (है)।

26. जन्म दुःख (है) और बुढ़ापा दुःख (है); बीमारियाँ और (बार-बार) मरण (दुःख हैं); खेद! संसार ही दुःख है, जहाँ पर प्राणी दुःखी होते हैं।

27. जिस-जिस समय में जीव जिस-जिस भाव से युक्त होता है, उस-उस समय में वह (भावानुसार) शुभ-अशुभ कर्म को बाँधता है।

28. (जब व्यक्ति) कर्म को चुनते हैं, (तो) (वे) स्वाधीन (होते हैं); किन्तु उसके विपाक[1] में (वे) पराधीन होते हैं; (जैसे) (जब कोई) पेड़ पर चढ़ता है (तो) (वह) स्वाधीन (होता है), (किन्तु) (जब) उससे गिरता है, (तो) वह पराधीन (होता है)।

---

1. सुख-दुख रूप कर्म-फल।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

29 कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ।।

30 मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ ।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो ।।

31 मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ।।

32 रागो य दोसो वि य, कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ।।

33 न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ।

34 न य संसारम्मि सुहं जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

29. (कहीं) जीव कर्मों के अधीन (होते हैं), (तो) कहीं कर्म जीव के अधीन (होते हैं); (जैसे) कहीं साहूकार बलवान् (होता है), तो कहीं कर्जदार बलवान् (होता है)।

30. जीव मिथ्यात्व (सत्य पर अश्रद्धा) को भोगता हुआ विपरीत दृष्टिवाला होता है; फिर (वह) धर्म को भी नहीं चाहता है, जैसे ज्वर-ग्रस्त (व्यक्ति) मधुर भी रस को (नहीं चाहता है)।

31. मिथ्यात्व (सत्य पर अश्रद्धा) के द्वारा परिवर्तित आत्मा तीव्र कषाय से अत्यन्त ग्रस्त (होता है), (तथा) (वह) जीव (और) देह को एक मानता हुआ बहिरात्मा होता है।

32. राग और द्वेष कर्म का मूल कारण (है)। कर्म मोह (आध्यात्मिक विस्मृति) से भी उत्पन्न होता है। (ऐसा) (जिन) कहते हैं। निश्चय ही जन्म-मरण का मूल कर्म (है)। निस्सन्देह जन्म-मरण (दोनों) ही दुःख (हैं)। (ऐसा) (जिन) कहते हैं।

33. अत्यन्त ही अपमानित तथा समर्थ भी शत्रु वह (हानि) उत्पन्न नहीं करता है, जो दोनों ही अनियन्त्रित राग और द्वेष उत्पन्न करते हैं।

34. चूंकि जन्म-जरा-मरण के दुःख से पीड़ित जीव के लिए संसार में बिलकुल सुख नहीं है, अतः (उसके लिए) मोक्ष (परम-शान्ति का मार्ग) स्वीकार किए जाने योग्य (है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

35 तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स ।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय ! गिण्हाहि तूरंतो ।

36 कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ।।

37 जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं ।
मुच्चइ हु ससंवेगो, अणंतवी होइ असंवेगी ।।

38 अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति निच्छियमईओ ।
दुक्खपरीकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ।।

39 भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।

40 धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

35. यदि तू घोर संसार-समुद्र के पार जाने की इच्छा करता है, तो हे सदाचारी ! शीघ्रता करते हुए तप-संयमरूपी उपकरण को ग्रहण कर ।

36. देवताओं-सहित सभी मनुष्यों का जो कुछ (भी) कायिक और मानसिक दुःख है, (वह) इच्छाओं में अत्यासक्ति से ही उत्पन्न (होता है)। (किन्तु) वीतराग उसका नाश कर देता है ।

37. जिस कारण से अनासक्ति उत्पन्न होती है, वह पूर्ण सावधानी से पालन किया जाना चाहिए। श्रेष्ठ अनासक्त (व्यक्ति) कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। किन्तु आसक्त (व्यक्ति) (कर्म-बन्धन का) अन्त करने वाला नहीं होता है ।

38. निश्चय दृष्टि से यह शरीर अन्य (है) (तथा) (यह) जीव भी अन्य (है)। (इसलिए) शरीर से ममता को, जो दुःखदायक और अत्यन्त क्लेशजनक (है), दूर हटाओ ।

39. वस्तु-जगत् से विरक्त मनुष्य दुःख-रहित (होता है); संसार के मध्य में विद्यमान भी (वह) दुःख-समूह की इस अविछिन्न धारा से मलिन नहीं किया जाता है, जैसे कि कमलिनी का पत्ता जल से (मलिन नहीं किया जाता है)।

40. अहिंसा, संयम और तप धर्म (है)। (इससे ही) सर्वोच्च कल्याण (होता है)। जिसका मन सदा धर्म में (लीन है), उस (मनुष्य) को देव भी नमस्कार करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

41 धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।

42 कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि ।।

43 खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ।।

44 जो चिंतेइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ।।

45 परसंतावयकारण-वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ।।

46 विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स ।
सयण व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

41. वस्तु का स्वभाव धर्म (है); क्षमादि परिणाम भी दस[1] प्रकार का धर्म (है); रत्नों का तिगड्डा अर्थात् तीन रत्नों[2] का समूह भी धर्म (है); (तथा) जीवों की रक्षा करना (भी) धर्म है।

42. देवों, मनुष्यों और पशुओं द्वारा किए जाते हुए भीषण उपसर्ग के अवसर पर भी जो क्रोध के द्वारा तपाया नहीं जाता है, उस (व्यक्ति) के (जीवन में) निर्मल क्षमा होती है।

43. (मैं) सब जीवों को क्षमा करता हूँ; सब जीव मुझको क्षमा करें; मेरी सब प्राणियों से मित्रता (है); किसी से भी मेरा वैर नहीं (है)।

44. जो (व्यक्ति) कुटिल (बात) नहीं सोचता है, कुटिल (कार्य) नहीं करता है, कुटिल (वचन) नहीं बोलता है तथा (जो) निज-दोष को नहीं छुपाता है, उसके (जीवन में) आर्जवधर्म होता है।

45. (जो) पर में दुःख-जनक (मानसिक स्थिति) का कारण (है) (उस) वचन को छोड़कर जो साधु (या श्रावक) स्व-पर के लिए हितकारक वचन को बोलता है, उसके (जीवन में) चौथा सत्य धर्म होता है।

46. सत्यवक्ता मनुष्य लोक में माता की तरह विश्वसनीय, गुरु की तरह पूज्य तथा स्वजन की तरह सबका प्रिय होता है।

---

1. (क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शील, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य)।
2. (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

47 सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसा वि गुणा ।
सच्चं णिबंधणं हि य, गुणाणमुदधीव मच्छाणं ।।

48 सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।।

49 समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व-लोहमल-पुंजं ।
भोयण - गिद्धि - विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ।।

50 विसयकसाय-विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ।।

51 णिव्वेदतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।।

52 जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

47. सत्य (बोलने) में तप होता है, सत्य (बोलने) में संयम होता है, तथा (सत्य बोलने में) शेष (अन्य) सद्गुण भी (पालित) (होते हैं)। पुनः सत्य (बोलना) ही (सब) सद्गुणों का आधार (होता है), जैसे मछलियों के लिए (आधार) जल का भंडार (होता है)।

48. लोभी मनुष्य के लिए कदाचित् कैलाश (पर्वत) के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी हो जाएँ, किन्तु उनके द्वारा (उसकी) कुछ (भी) (तृप्ति) नहीं (होती है), क्योंकि इच्छा आकाश के समान अन्त-रहित (होती है)।

49. जो पूर्ण संतोषरूपी जल से तीव्र लोभ रूपी मल-समूह को धोता है, तथा (जो) भोजन में आसक्ति से रहित है, उस (व्यक्ति) के (जीवन में) निर्मल शौच (धर्म) होता है।

50. इन्द्रिय-भोग (तथा) कषायों में संयम भाव को धारण करके जो ध्यान (और) स्वाध्याय के द्वारा आत्मा का चिंतन करता है, उसके (जीवन में) नियम से तप होता है।

51. जो सब वस्तुओं में आसक्ति को त्यागकर वैराग्य के तीनों[1] (साधनों) का चिन्तन करता है, उस (व्यक्ति) के (जीवन में) त्याग घटित होता है। इस प्रकार (यह) अरहन्तों द्वारा कहा गया है।

52. जो प्राप्त किए गए मनोहर और प्रिय भोगों को पीठ करता है (तथा) स्व-अधीन भोगों को छोड़ता है, वह ही त्यागी है, इस प्रकार कहा जाता है।

---

1. संसार, शरीर तथा इन्द्रिय-विषय-इन तीनों की नश्वरता का चिन्तन।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

53 अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।

54 सुहं वसामो जीवामो, जेसिं णो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ।।

55 जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।

56 दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ।।

57 एए य संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

53. (परमार्थतः) मैं निश्चय ही सर्वोच्च (और) शुद्ध (आत्मा) (हूँ)। (मैं) दर्शन-ज्ञानमय (हूँ) (तथा) सदा अरूपी (हूँ)। इस (आत्मा) के अलावा, अन्य थोड़ी सी परमाणुमात्र भी (वस्तु) मेरी नहीं है।

54. (हम) जिनके लिए कुछ भी (अपना) नहीं है सुखपूर्वक रहते हैं और जीते हैं। (यह बात ऐसे ही है जैसे राजा जनक ने कहा था कि) जलाई जाती हुई मिथिला में मेरा कुछ भी नहीं जलाया जाता है, (इसलिए हम सुखपूर्वक रहते हैं और जीते हैं)।

55. जैसे जल में उत्पन्न कमल पानी से नहीं लीपा जाता है, उसी प्रकार इच्छाओं के द्वारा (जो) (व्यक्ति) नहीं लीपा गया है, उसको हम अहिंसक कहते हैं।

56. जिसके (जीवन में) आसक्ति नहीं होती है, (उसके द्वारा) दुःख नष्ट कर दिया गया है; जिसके (जीवन में) तृष्णा नहीं होती है, (उसके द्वारा) आसक्ति नष्ट की गई (है); जिसके (जीवन में) लोभ नहीं होता है, (उसके द्वारा) तृष्णा नष्ट की गई (है); जिसके (पास) कुछ भी (वस्तुएँ) नहीं (हैं), (उसके द्वारा) लोभ नष्ट किया गया (है)।

57. यदि (व्यक्ति) पार करने में अत्यन्त कठिन इन कामासक्तियों को पार करके (समाज में जीता है), (तो) (उसकी) शेष (आसक्तियाँ) भी (समाप्त) हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, महासागर को पार करके (जो) (बाहर) (आया है), (उसके लिए) गंगा के समान नदियों को भी (पार करना) (सरल) हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

58 जा जा वज्जई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ।।

59 अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ।।

60 अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ।।

61 अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।

62 एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

58. जो जो रात्रि बीतती है, वह लौटती नहीं है। अधर्म करते हुए (व्यक्ति) की रात्रियाँ व्यर्थ होती हैं।

59. आत्मा आत्मा से जानता है (कि) वास्तविक धर्म आत्म-साक्षीपन (है)। आत्मा उसको (आत्म-साक्षीपन को) इस तरह से कार्य में परिणत करता है, जिससे (वह) स्वरूप (से उत्पन्न) सुख को प्राप्त करने वाला होता है।

60. (मेरी) आत्मा (ही) वैतरणी नदी[1] (है), अर्थात् (आत्मा) ही पाप-युक्त (होती है); (मेरी) आत्मा (ही) मेरे लिए कूट-शाल्मलि[2] (वृक्ष) (है), अर्थात् (आत्मा) (ही) (अपने लिए) दुःख-प्रद (होती है), (मेरी) आत्मा (ही) काम दुधा गाय[3] (है), अर्थात् (आत्मा) (ही) इच्छित पदार्थों को देने वाली (होती है); (और) (मेरी) आत्मा (ही) मेरे लिए इन्द्र का उपवन (है), अर्थात् (आत्मा) (ही) आनन्द देने वाला निवास स्थान (है)।

61. आत्मा सुखों और दुःखों का कर्ता (है) तथा (उनका) अकर्ता[4] भी (है)। शुभ में स्थित आत्मा मित्र (है) और अशुभ में स्थित (आत्मा) शत्रु (है)।

62. (संक्षेप में कहें तो) न जीती गई आत्मा ही केवल शत्रु (होती है); (विस्तार से कहें तो) कषाएँ और इन्द्रिय-विषयासक्ति (शत्रु) (होती हैं)। (इसलिए) हे ज्ञानी! उनको उचित रीति से जीतकर (मैं) (जगत् में) रहता हूँ।

---

1 नरक की अति दुर्गन्धित नदी।
2 नरक में तेज काँटों से युक्त वृक्ष।
3 सभी इच्छाओं को पूरा करनेवाली काल्पनिक गाय।
4 केवलज्ञान अवस्था में आत्मा सुख-दुःख का कर्ता नहीं होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

63 जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।।

64 अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ।।

65 अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ।।

66 वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ।।

67 एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ।।

68 नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरुभंति ।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

63. जो (व्यक्ति) कठिनाई से जीते जाने वाले संग्राम में हजारों के द्वारा हजारों को जीते (और) (जो) एक स्व को जीते, (इन दोनों में) उसकी यह (स्व पर जीत) परम विजय है।

64. (तू) अपने में (अंतरंग राग-द्वेष से) ही युद्ध कर, (जगत् में) बहिरंग (व्यक्तियों) से युद्ध करने से तेरे लिए क्या लाभ ? (सच यह है कि) अपने में ही अपने (राग-द्वेष) को जीत कर सुख बढ़ता है।

65. आत्मा ही सचमुच कठिनाई से वश में किया जाने वाला (होता है), (तो भी) आत्मा ही वश में किया जाना चाहिये। (कारण कि) वश में किया हुआ आत्मा (ही) इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

66. संयम और तप से मेरे द्वारा वश में किया हुआ (मेरा) आत्मा अधिक अच्छा (है); (किन्तु) बंधन और प्रहार से दूसरों के द्वारा वश में किया जाता हुआ मैं (अधिक अच्छा) नहीं (हूँ)।

67. (व्यक्ति) एक ओर से निवृत्ति करे तथा एक ओर प्रवृत्ति (करे); एक ओर असंयम से निवृत्ति (करे), दूसरी ओर संयम में प्रवृत्ति (करे)।

68. जैसे लगाम के द्वारा घोड़े (बलपूर्वक) रोके गये (होते हैं), (उसी प्रकार) ज्ञान से, ध्यान से, और तपस्या की शक्ति से इन्द्रिय-विषय और कषाएँ दृढ़तापूर्वक रोकी जाती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

69 अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु मे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ ।।

70 कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ।।

71 उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।।

72 जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ।।

73 से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं ।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे ।।

74 जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं ।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ।।

75 सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

69. थोड़ा सा ऋण, थोड़ा सा घाव, थोड़ी सी अग्नि और थोड़ी सी कषाय तुम्हारे द्वारा विश्वास किए जाने योग्य नहीं है, क्योंकि थोड़ा सा भी वह बहुत ही होता है।

70. क्रोध प्रेम को नष्ट करता है, अहंकार विजय का नाशक (होता है), कपट मित्रों को दूर हटाता है (और) लोभ सब (गुणों का) विनाशक (होता है)।

71. (व्यक्ति) क्षमा से क्रोध को नष्ट करे, विनय से मान को जीते, सरलता से कपट को तथा संतोष से लोभ को जीते।

72. जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार से मेधावी अध्यात्म के द्वारा पापों को समेट लेता है (नष्ट कर देता है)।

73. ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक अनुचित कार्य को करके (व्यक्ति) अपने को तुरन्त रोके (और फिर) वह उसको दुबारा न करे।

74. जो ममतावाली-वस्तु-बुद्धि को छोड़ता है, वह ममतावाली वस्तु को छोड़ता है; जिसके लिए (कोई) ममतावाली वस्तु नहीं है, वह ही (ऐसा) ज्ञानी है (जिसके द्वारा) (अध्यात्म)-पथ जाना गया (है)।

75. सर्व परिग्रह से रहित व्यक्ति (सदा) शान्त और प्रसन्नचित्त (होता है)। (वह) जिस मुक्ति-सुख को प्राप्त करता है, उसको चक्रवर्ती भी प्राप्त नहीं करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

76 गंथच्चाओ इंदिय-णिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं ।।

77 एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंते वियाणिया ।।

78 सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

79 जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ।।

80 जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ।।

81 तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।।

82 रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए ।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

76. जैसे हाथी के लिए अंकुश (है) तथा नगर के लिए खाई भी (है), (वैसे ही) इन्द्रियों के संयम में परिग्रह का त्याग (है); (और) इन्द्रिय-संयम (ही) अनासक्तता है।

77. सचमुच ही यह ज्ञानी (होने) का सार (है) कि (ज्ञानी) किसी की भी हिंसा नहीं करता है। वे (जिन) निश्चय ही अहिंसा और समता को इतना (महत्वपूर्ण) जानकर (इस बात को कहते हैं)।

78. सब ही जीव जीने की इच्छा करते हैं, मरने की नहीं, इसलिए संयत (व्यक्ति) पीड़ादायक प्राणवध का परित्याग करते हैं।

79. जैसे तुम्हारे (अपने) लिए दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार (दूसरे) सब जीवों के लिए जानकर उचित रूप से सब (जीवों) से स्नेह करो (तथा) अपने से तुलना के द्वारा (उनके प्रति) सहानुभूति (रक्खो)।

80. जीव का घात खुद का घात (होता है), जीव के लिए दया खुद के लिए दया होती है; उस कारण से आत्म-स्वरूप को चाहने वालों के द्वारा सब जीवों की हिंसा छोड़ी हुई (है)।

81. देख ! निस्सन्देह तू वह ही है जिसको (तू) मारे जाने योग्य मानता है। देख ! निस्सन्देह तू वह ही है जिसको (तू) शासित किए जाने योग्य मानता है।

82. रागादि का उत्पन्न न होना अहिंसकता (है)। इस प्रकार (यह) सिद्धान्त में कहा गया है। यदि उनकी उत्पत्ति (है), (तो) (वह) जिन द्वारा निश्चय ही हिंसा कही गई (है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

83 अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा व मारेज्ज ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।

84 अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसेति णिच्छओ समए ।
जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो ।।

85 तुंगं न मंदराओ, आगासाओ बिसालयं नत्थि ।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि ।।

86 इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ।।

87 सोतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं ।।

88 जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

83. प्राणियों की हिंसा करो और (उनकी) हिंसा न भी करो, (किन्तु) (हिंसा के) विचार से (ही) (कर्म)–बंध (होता है)। निश्चयनय के (अनुसार) यह जीवों के (कर्म)–बंध का संक्षेप (है)।

84. आत्मा ही अहिंसा (है); आत्मा ही हिंसा (है); जो अप्रमादी होता है, (वह) अहिंसक (होता है)। (जो) प्रमादी (होता है), (वह) हिंसक (होता है)। आगम में (ऐसा) स्थिर मत (व्यक्त किया गया है)।

85. जैसे जगत में मेरु पर्वत से ऊँचा (कुछ) नहीं (है), (और) आकाश से विस्तृत (भी) (कुछ) नहीं (है), वैसे ही अहिंसा के समान (जगत में) (श्रेष्ठ और व्यापक) धर्म नहीं (है); (यह) (तुम) जानो।

86. यह (वस्तु) मेरी है और यह (वस्तु) मेरी नहीं (है), यह मेरा कर्तव्य (है) और यह (मेरा) कर्तव्य नहीं (है); इस प्रकार ही बारंबार बोलते हुए उस (व्यक्ति) को काल ले जाता है, अतः कैसे प्रमाद (किया जाय)?

87. सोते हुए (प्रमादी) पुरुषों के (लोकातीत) परमार्थ (और) लोक में सर्वोत्तम प्रयोजन (दोनों ही) नष्ट हो जाते हैं; इसलिए जागते हुए (प्रमाद-रहित हुए) तुम (सब) पुराने कर्मों को नष्ट करो।

88. धर्मात्माओं का जागरण (सक्रिय होना) और अधर्मात्माओं का सोना (निष्क्रिय होना) सर्वोत्तम (होता है); (ऐसा) वत्स देश के राजा की बहिन जयंती को जिन (महावीर) ने कहा था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

89 सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपण्ण ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ।।

90 न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ।।

91 नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया ।।

92 जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति .सो सया धन्नो ।।

93 विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

89. कुशल-बुद्धि विद्वान् तथा जागा हुआ (आध्यात्मिक) (जीवन) जीने वाला (व्यक्ति) सोए हुओं (अध्यात्म को भूले हुए व्यक्तियों) पर भरोसा न करे; समय के क्षण निर्दयी (होते हैं), शरीर निर्बल (है), अतः (वह) अप्रमादी (जागृत) भारण्ड-पक्षी की तरह विचरण करे।

90. अज्ञानी (व्यक्ति) (आसक्त) कर्म से कर्म–(रज) को नष्ट नहीं करते हैं। ज्ञानी (व्यक्ति) अकर्म (अनासक्त कर्म) से कर्म–(रज) को नष्ट कर देते हैं। मेधावी लोभ और मद से परे गये हुए होते हैं; संतोषी (व्यक्ति) पाप नहीं करते हैं।

91. आलस्य के साथ सुख नहीं (रहता है), निद्रा के साथ विद्या (संभव) नहीं (होती है), आसक्ति के साथ वैराग्य (घटित) नहीं (होता है), (तथा) जीव-हिंसा के साथ दयालुता नहीं (ठहरती है)।

92. हे मनुष्यों ! तुम (सब) निरंतर जागो (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग रहो), जागते हुए (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग) (व्यक्ति) की प्रतिभा बढ़ती है, जो (व्यक्ति) सोता है (आध्यात्मिक मूल्यों को भूला हुआ है), वह सुखी नहीं होता है, जो सदा जागता है (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग है), वह सुखी होता है।

93. अविनीत के (जीवन में) अनर्थ (होता है) और विनीत के (जीवन में) समृद्धि (होती है); जिसके द्वारा यह दोनों प्रकार से जाना हुआ (है), वह (जीवन में) विनय को ग्रहण करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

94 अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ।।

95 अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ।।

96 नासीले न विसाले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।।

97 नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ।।

98 वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ।।

99 जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

94. अच्छा तो, जिन (इन) पाँच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं की जाती है : अहंकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से, तथा आलस्य से।

95–96 अच्छा तो (जो) (व्यक्ति) (दूसरों का) उपहास करने वाला नहीं है, (जो) सदा नियन्त्रित (रहता है) तथा (जो) (दूसरे की) गुप्त बात को प्रकट नहीं करता है, (वह) शिक्षा से सम्पन्न कहा जाता है। (इनके अतिरिक्त) (जो) (व्यक्ति) नैतिकता-रहित नहीं (है), (जो) दुर्व्यवहार-पूर्ण नहीं (है), (जो) अति लालची नहीं (है), (जो) चिड़चिड़ा नहीं (है), (जो) सत्य की खोज में लीन रहता है, (वह) (भी) शिक्षा से सम्पन्न कहा जाता है। (इन उपर्युक्त) आठ कारणों से (व्यक्ति शिक्षा से सम्पन्न कहा जाता है)।

97. (जो) (व्यक्ति) (नैतिक-आध्यात्मिक) ग्रन्थों का अध्ययन करके श्रुत-साधना में संलग्न (होता है), (वह), (मूल्यात्मक) ज्ञान को (प्राप्त करता है), तथा एकाग्र चित्तवाला (होता है) और (वह) (स्वयं) (मूल्यों में) जमा हुआ (रहता है) (और) दूसरे को भी (मूल्यों में) जमाता है।

98. (जो) सदा गुरु के सान्निध्य में रहता है, (जो) शुभ प्रवृत्तिवाला (है), (जो) स्नेहशील (है), (जो) दूसरों की भलाई करनेवाला (है) और (जो) मधुर बोलनेवाला (है), (वह) शिक्षा प्राप्त करने के लिए योग्य होता है।

99. जैसे एक दीपक से दीपकों की बड़ी संख्या जलती है और वह दीपक (भी) जलता है, (वैसे ही) दीपक के समान आचार्य (स्वयं) प्रकाशित होते हैं तथा दूसरों को प्रकाशित करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

100 उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ।।

101 जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ।।

102 अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ।।

103 ससरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ।।

104 आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।

105 अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

100 जीव उत्तम गुणों का आश्रय (है); सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य (है); (सब) तत्वों में सर्वोत्तम तत्व (है); (यह) निश्चय (दृष्टि) से तुम (सब) जानो।

101. आत्माएँ तीन प्रकार की होती हैं : बहिरात्माएँ, अन्तरात्माएँ और परम-आत्माएँ और (परम-आत्माएँ) दो प्रकार की (होती हैं) : अरहंत—(आत्माएँ और सिद्ध—(आत्माएँ)।

102. (जो व्यक्ति यह मानता है कि) इन्द्रियाँ (ही) (परम सत्य हैं) (वह) बहिरात्मा (है); (तथा) (जिस व्यक्ति में) (शरीर से भिन्न) आत्मा की विचारणा बिना किसी सन्देह के है (वह) अन्तरात्मा (है) (तथा) कर्म-कलंक से मुक्त (जीव) परम आत्मा (है)। (परम आत्मा) (ही) देव कहा गया (है)।

103. (जिनके द्वारा) केवलज्ञान से सकल पदार्थ जान लिए गए हैं और सर्वोत्तम सुख प्राप्त कर लिया गया है, (वे) अरहंत (हैं) (जो) शरीर-सहित (होते हैं)। सिद्ध (शरीर-रहित होते हैं) (किन्तु) केवलज्ञानरूपी शरीर वाले (होते हैं)। (इनके द्वारा) (सर्वोत्तम सुख भी प्राप्त किया गया है)।

104. अरहंतो द्वारा (यह) कहा गया (है) (कि) (साधकों द्वारा) तीन प्रकार (मन, वचन, काय) से बहिरात्मा को छोड़कर और अन्तरात्मा को ग्रहण करके परमात्मा (परम आत्मा) ध्याया जाता है।

105. जीव रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, शब्दरहित (होता है); (वह) अदृश्यमान (रहता है), चेतना (उसका) गुण (है), (उसके विषय में) समझना अनुमान के बिना (होता है), (उसकी आकृति नहीं कही गई (है)। (तुम) जानो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

106 सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव त्ति भणियमन्नेसु ।
परिणामो णन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये ।।

107 पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगईहेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं ।।

108 कम्मसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ।।

109 सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

110 तम्हा दु कुसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

106. शुभ भाव पुण्य (है); अशुभ भाव पाप है। इस प्रकार यह अन्य (दर्शनों) में भी कहा गया (है)। (किन्तु) जिन-सिद्धान्त में (यह भी कहा गया है कि) (चूंकि) (शुभ-अशुभ) भाव दूसरे पर आश्रित होता है (इसलिए) (उसे) दुःख-नाश का कारण नहीं (कहा जा सकता है)।

107. जो (मनुष्य) पुण्य (उचित) क्रिया/शुभ मानसिक तनाव) को ही खूब चाहता है, उसके द्वारा लौकिक जिन्दगी चाही हुई होती है। पुण्य (उचित क्रिया) सुखी अवस्था का कारण (है)। (किन्तु) (पाप-सहित) पुण्य (शुभ मानसिक तनाव) के नाश से ही परम शान्ति (समता) (घटित होती है)।

108. (नीति-शास्त्र के अनुसार) अशुभ कर्म अनुचित (होता है) (और) शुभ कर्म उचित (होता है)। (कर्मों के इस भेद को) (तुम) समझो। (किन्तु) (अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार) वह (शुभ कर्म) उचित कैसे बना रहेगा जो संसार (मानसिक तनाव) में प्रविष्ट कराता है ?

109. जैसे काले लोहे से बनी हुई बेड़ी व्यक्ति को बांधती है और सोने की (बेड़ी) भी (व्यक्ति को) (बांधती है), वैसे ही (जीव के द्वारा) किया हुआ (मानसिक व्यग्रतात्मक) शुभ-अशुभ कर्म भी जीव को बांधता है।

110. इसलिए तो (दोनों) कुशीलों (मानसिक तनाव उत्पन्न करने वाले कर्मों) के साथ बिल्कुल राग मत करो और (उनके साथ) सम्पर्क (भी) मत (रक्खो), क्योंकि (आत्मा का) स्वतन्त्र (स्वभाव) कुशीलों के साथ सम्पर्क और (उनके साथ) राग से व्यर्थ (हो जाता है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

111 वरं वयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ।।

112 खयरामरमणुय-करंजलि-मालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी, लब्भई बोही ण भव्वणुआ ।।

113 नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ।।

114 नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

111. व्रतों और तपों (शुभ कर्मों) के कारण (मिला हुआ) स्वर्ग (मनुष्य के लिए) (नरक से) अधिक अच्छा होता है, (जिससे) (मनुष्य के जीवन में) (कम से कम) दुःख (तो) न रहे। (सच है कि) (उनके) विरोधी (अशुभ कर्मों को) (करने) के कारण नरक में (दुःख) (रहेगा) (ही)। (ठीक ही है) प्रतीक्षा करते हुए (व्यक्तियों) के लिए (शुभकर्मरूपी) छाँह और (अशुभ-कर्मरूपी) धूप में ठहरे हुए होने के कारण बड़ा भारी भेद (होता है)।

112. निस्सन्देह (व्यक्ति द्वारा) (शुभ भावों से) चक्रवर्ती सम्राट् का (ऐसा) प्रचुर राज-वैभव प्राप्त किया जाता है (जो) विद्याधरों, देवों और मनुष्यों द्वारा हाथों से नमस्कार की पंक्तियों के जरिये प्रशंसा की गई है। (किन्तु) अध्यात्म-वादी का अनुसरण करने वाली जागृति (केवल) (शुभ भावों से) (प्राप्त नहीं की जाती है)।

113. जो चारित्र के बिना ज्ञान का (अभ्यास करता है), (जो) आध्यात्मिक जागृति के बिना मुनि-वेष (अपनाता है) और जो मन की एकाग्रता के बिना तपस्या करता है, (वह) (सब) उस (व्यक्ति) के लिए निरर्थक (होता है)।

114. अनाध्यात्मवादी के (जीवन में) (सम्यक्) ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। (सम्यक्) ज्ञान के बिना चारित्र में विशिष्टताएँ (उत्पन्न नहीं होती हैं)। चारित्ररहित (व्यक्ति) के लिए (कर्मों से) छुटकारा (संभव) नहीं होता है। (कर्मों से) छुटकारे-रहित (व्यक्ति) के लिए (जीवन में) समता (घटित) नहीं (होती है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

115 हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ।।

116 संजोअसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।।

117 जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्मत्तं ।।

118 सम्मत्तविरहिया णं, सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं ।।

119 दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं ।।

120 सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

115. क्रिया-हीन ज्ञान निकम्मा (होता है), (तथा) अज्ञान से (की हुई) क्रिया (भी) निकम्मी (होती है); (प्रसिद्ध है कि) देखता हुआ (भी) लँगड़ा (व्यक्ति) (आग से) भस्म हुआ, और दौड़ता हुआ (भी) अन्धा व्यक्ति (आग से भस्म हुआ)।

116. (आचार्य) (ऐसा) कहते हैं (कि) (ज्ञान और क्रिया का) संयोग सिद्ध होने पर फल प्राप्त होता है), क्योंकि (ज्ञान अथवा क्रियारूपी) एक पहिए से (धर्मरूपी) रथ नहीं चलता है। (समझो) अन्धा और लंगड़ा, वे (दोनों) जंगल में इकट्ठे मिल कर जुड़े हुए (आग से बचकर) नगर में गए।

117. व्यवहार से जीव आदि (तत्वों) में श्रद्धा सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) (है); निश्चय से आत्मा ही सम्यक्त्व होती है, (ऐसा) अरहंतों द्वारा कहा गया (है)।

118. सम्यक्त्व (आध्यात्मिक जागृति) से रहित (व्यक्ति) अत्यन्त कठोर तप करते हुए भी अध्यात्म के लाभ को हजारों-करोड़ों वर्षों में भी प्राप्त नहीं करते हैं।

119. (जिसके द्वारा) निर्दोष आध्यात्मिक जागृति (प्राप्त की गई है), (वह) ही अद्वितीय (है), (चूंकि) वह ही निर्वाण (समता) को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक जागृति से रहित व्यक्ति उस इच्छित लाभ को प्राप्त नहीं करता है।

120. एक ओर सम्यग्दर्शन (की प्राप्ति) का लाभ (हो), (तथा) दूसरी ओर त्रिलोक (की प्राप्ति) का लाभ हो; (उन दोनों में) जो सम्यग्दर्शन (की प्राप्ति) का लाभ (है), (वह) त्रिलोक (की प्राप्ति) के लाभ से निस्सन्देह अधिक अच्छा (है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

121 किं बहुणा भणिएणं, जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहिंति जे वि भविया, तं जाणइ सम्ममाहप्पं ।।

122 सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई ।।

123 सम्मदिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

121. कही गई अधिक बात से क्या लाभ है ? (इतना ही कहना पर्याप्त है कि) उस सम्यक्त्व (आध्यात्मिक जागृति) की महिमा को जानो (जिसके कारण) श्रेष्ठ मनुष्य भूतकाल में (समता की प्राप्ति में) सफल हुए हैं (और) (भविष्य में) भी श्रेष्ठ मनुष्य (समता की प्राप्ति में) सफल होंगे।

122. (सुखों के लिए वस्तुओं को) उपयोग में लाते हुए भी (अनासक्ति के कारण) कोई (व्यक्ति) (तो) (उन पर) आश्रित नहीं होता है (और परम शान्ति प्राप्त कर लेता है), (किन्तु) (उनको) उपयोग में न लाते हुए भी (कोई) (व्यक्ति) (आसक्ति के कारण) (उन पर) आश्रित (रहता है) (और) परम शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है)। (ठीक ही है) किसी के लिए (किए गए) श्रेष्ठ कार्य के प्रयास के कारण भी (आसक्ति के अभाव के कारण) (कोई) (व्यक्ति) (उस) श्रेष्ठ कार्य से (दृढ़ रूप से) संबंधित नहीं होता है। (अतः कहा जा सकता है कि आसक्ति के कारण ही वस्तुओं से संबंध जुड़ता है, जीव के कर्म-बन्धन होता है और उसमें अशान्ति उत्पन्न होती है)।

123. सम्यग्दृष्टि जीव (अध्यात्म में) शंका रहित होते हैं, इसलिए (वे) निर्भय (होते हैं); चूंकि (सम्यग्दृष्टि जीव) सात[1] (प्रकार के) भयों से मुक्त (होते हैं), इसलिए निश्चय ही (वे) अध्यात्म मे) शंका-रहित (होते हैं)।

---

1. लोक-भय, परलोक-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय (संयमहीन होने का भय) मृत्यु-भय, वेदना-भय और अकस्मात्-भय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

124 खाई - पूया - लाहं, सक्काराइं किमिच्छसे जोई ।
इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोये ।।

125 जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा, आइण्णओ खिप्पमिवक्खलीणं ।।

126 जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ।।

127 जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ।।

128 सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ।।

129 जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्त णिरुज्झदि
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

124. हे योगी ! यदि तू सर्वोत्तम अस्तित्व (समतामय जीवन) को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, (तो) प्रशंसा, आदर (सांसारिक) लाभ, आतिथ्य आदि की कामना क्यों करता है ? क्या इनके द्वारा तेरे लिए सर्वोत्तम अस्तित्व में (प्रवेश होगा) ?

125. जहां कहीं भी धीर (व्यक्ति) मन से, वचन से या काया से क्षुद्र (कार्य) किया हुआ (अपने में) देखे, वहां ही (वह) (अपने को) पीछे खींचे जैसे कुलीन घोड़ा लगाम को (देखकर) (अपने को) तुरन्त (पीछे खींच लेता है)।

126. जो गुणवानों में अनुराग-सहित (होता है), (जो) परम श्रद्धा से (उनका) अनुसरण करता है, (जो) (उनसे) (सदा) प्रिय वचन बोलता हुआ (रहता है), उस भव्य (सम्यग्दृष्टि) में (गुणीजनों के प्रति) वात्सल्य (होता है)।

127. जैसे जैसे ज्ञानी (ऐसे) असाधारण आध्यात्मिक ज्ञान में लीन होता है (जो) अत्यधिक आनन्द की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है, वैसे वैसे (वह) नये नये (प्रकार की) अनासक्ति की स्थितियों (के अनुभव) से आनन्दित होता है।

128. जैसे धागे-युक्त सूई कूड़े में पड़ी हुई भी नहीं खोती है, वैसे ही संसार में स्थित भी नियम-युक्त जीव (व्यक्ति) बर्बाद नहीं होता है।

129. जिससे तत्व जाना जाता है, जिससे चित्त संयमित किया जाता है, जिससे आत्मा शुद्ध की जाती है, वह जिन-शासन में ज्ञान (है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

130 जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ।।

131 जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।

132 एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ।।

133 लद्धणं णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ।।

134 सक्किरियाविरहातो इच्छितसंपावयं ण नाणं ति ।
मग्गण्णू वाऽचेट्ठो, वातविहीणोऽधवा पोतो ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

130. जिसके द्वारा राग से मुक्त हुआ जाता है, जिसके द्वारा सद्‌गुणों में अनुरक्त हुआ जाता है, जिसके द्वारा मैत्री उत्पन्न की जाती है, वह जिन-शासन में ज्ञान (है)।

131. जो (आत्मा को) न बंधी हुई (तथा) (कर्मों के द्वारा) मलिन न की हुई समझता है, (जो) (इसके अनुभव को) अद्वितीय (समझता है) और (इसके अस्तित्व को) (अन्तरंगरूप से) भेदरहित (समझता है), (जो) (आत्मा को) क्षेत्र रहित, परिभाषारहित, तथा मध्यरहित (समझता है), (वह) सम्पूर्ण जिन-शासन को समझता है।

132. इस (आत्म-ज्ञान) में (ही) (तू) सदा संलग्न (रह), इस (आत्म-ज्ञान) में (ही) (तू) सदा संतुष्ट हो (और) (इतना ही नहीं) इस (आत्म-ज्ञान) से (ही) (तू) तृप्त हो। (ऐसा करने से) तुझे उत्तम सुख होगा।

133. (जैसे कोई व्यक्ति परोपकार के द्वारा (यशरूपी) निधि को प्राप्त करके उसके फल को अनुभव करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पर से तृप्ति (की आदत) को त्यागकर (आत्म)-ज्ञानरूपी निधि (के फल) को अनुभव करता है।

134. (व्यक्ति के जीवन में) सत्‌क्रिया के अभाव के कारण (ही) ज्ञान चाही गई (शान्ति) को प्राप्त कराने वाला नहीं (होता है), जैसे कि (ज्ञान) मार्ग के जानकार को (जो) प्रयत्नरहित (होता है) इच्छित (स्थान) की ओर ले जाने वाला (नहीं) (होता है) या (जैसे कि) वायुरहित नौका इच्छित (स्थान) की ओर ले जाने वाली (नहीं) (होती है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

135 सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ।।

136 थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ।।

137 णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।

138 जो सव्वसंगमुक्कोऽणण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो ।।

139 चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।

140 सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

135. चरित्रहीन (व्यक्ति) के द्वारा अति-अधिक रूप से भी पढा हुआ श्रुत क्या (प्रयोजन) सिद्ध करेगा ? जैसे कि अन्धे (व्यक्ति) के द्वारा जलाए गए भी लाखों-करोडों दीपक (उसके लिए) क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे ?

136. जो चरित्र-युक्त (है), (वह) अल्प शिक्षित होने पर (भी) विद्वान् (व्यक्ति) को मात कर देता है; किन्तु जो चरित्रहीन (है), उसके लिए बहुत श्रुत-ज्ञान से (भी) क्या लाभ (है) ?

137. निश्चयनय के अनुसार यह इस प्रकार (कहा गया है) (कि) (जब) आत्मा अपनी आत्मा में खूब लीन (होता है) (तो) वह (लीनता) निश्चय ही सम्यक् चारित्र (होता है)। वह योगी (जो ऐसा करता है) परम शान्ति प्राप्त करता है।

138. जो (व्यक्ति) सम्पूर्ण आसक्ति से रहित (है) और आत्मा में एकाग्रचित्त (है), वह व्यक्ति (ही) स्वभाव से आत्मा को जानता-देखता है (और) (वह) निश्चय ही आध्यात्मिक चारित्र का आचरण करता है।

139. निस्संदेह चारित्र (ही) धर्म (कहा गया है)। जो समता (है), वह (भी) निश्चय ही धर्म कहा गया (है)। (समझो कि) मोह (आध्यात्मिक विस्मरण) और क्षोभ (हर्ष-शोकादि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति) से रहित आत्मा का भाव ही समता है। (अतः चारित्र और समता में समानता है)।

140. श्रमण (जिसके द्वारा) तत्व (अध्यात्म) (तथा) (उसके प्रेरक) सूत्र-ग्रन्थ भली प्रकार से जान लिए गए (हैं), (जो) संयम और तप से संयुक्त हैं, (जिसके द्वारा) राग (आसक्ति) समाप्त कर दिया गया। (जिसके द्वारा) सुख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

141 सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सो चिय सिद्धो णमो तस्स ।।

142 अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ।।

143 जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णाऽऽसवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।

144 अब्भंतरसोधीए, बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतर-दोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरे दोसे ।।

145 मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और दुःख (मूलतः) समान समझ लिया गया है, (उस ऐसे श्रमण का भाव) शुद्धोपयोग कहा गया है।

141. शुद्धोपयोगी की (अवस्था) ही श्रमणता कही गई (है), शुद्धोपयोगी की (अवस्था) (ही) आध्यात्मिक जागृति और(आध्यात्मिक) ज्ञान (बताया गया) (है); शुद्धोपयोगी की (अवस्था) ही निर्वाण (परम शान्ति) (बताई गई है)। वह ही (जीवन में) सर्वोच्च को प्राप्त करने वाला (माना गया है), (इसलिए) उसके लिए मेरा नमस्कार (है)।

142. शुद्ध–उपयोग (आत्मानुभव) से विभूषित (व्यक्तियों) का सुख श्रेष्ठ, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त तथा अविच्छिन्न (होता है)।

143. जिस साधु के लिए सुख-दुःख (मूलतः) (समान होते हैं), (उसमें) किसी भी वस्तु के प्रति राग-द्वेष नहीं होता है और (उसमें) आध्यात्मिक विस्मृति (भी नहीं रहती है) (तथा) (उसमें) न शुभ (कर्म) और न (ही) अशुभ कर्म प्रवेश करता है।

144. आंतरिक शुद्धि से बाह्य शुद्धि भी आवश्यक रूप से होती है, आंतरिक अशुद्धि से ही मनुष्य बाह्य दोषों को करता है।

145. कामुकता, अहंकार, मायाचार और लोभ से रहित (मानसिक) अवस्था (जब) (होती है), (तो) भावों में निर्मलता (रहती है)। सर्वज्ञों द्वारा मुक्तिगामी (जीवों) के लिए (यह बात) कही गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

146 जह व णिरुद्धं असुहं, सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण व, जोई झाएउ णियआदं ।।

147 आहारासण-णिद्दाजयं, च काऊणं जिणवरमएण ।
झायव्वो णियअप्पा, णाऊणं गुरुपसाएण ।।

148 तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगंतनिवेसणा य, सुत्तत्थ संचिंतणया धिई च ।।

149 आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ।।

150 हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ।।

151 विवित्तासेज्जाऽऽसाणजंतियाणं, ओमाऽसणाणं दमिइंदियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

146. जिस प्रकार (योगी के द्वारा) शुभ कर्म (शुभ मानसिक तनाव) से अशुभ कर्म (अशुभ मानसिक तनाव) रोका गया (है), उसी प्रकार शुद्ध अनुभव (आत्मानुभव) से शुभ कर्म (शुभ मानसिक तनाव) भी (रोका गया है)। इसलिए इस क्रम से ही योगी निज (शुभ व शुद्ध) स्वरूप का ध्यान करे।

147. जिन-सिद्धान्त में (यह कहा गया है कि) आहार, आसन और निद्रा पर विजय प्राप्त करके और (आत्मा को) गुरु-कृपा से समझकर निज-आत्मा ध्यायी जानी चाहिए।

148. गुरु और अनुभवी की सेवा, अज्ञानी (विकृत बुद्धिवाले) मनुष्य का पूर्णरूप से त्याग, स्वाध्याय और एकान्तवास, सूत्र के अर्थ का सम्यक् चिन्तन तथा धैर्य–(इन सबका एकीकरण) उसका (समता की प्राप्ति का) साधन (है)।

149. समाधि का इच्छुक तपस्वी श्रमण परिमित एवं ग्रहण करने योग्य आहार को चाहे, (ऐसे) साथी को चाहे (जो) विवेक-पूर्ण प्रयोजन और समझ (रखता हो) तथा (वह) विवेक से (जाने गये) उपयुक्त स्थान की चाहना करे।

150. जो मनुष्य (साधना के लिए) हितकारी आहार से, (हितकारी में भी) सीमित आहार से और (सीमित में भी) अल्प आहार से (सन्तुष्ट होते हैं), उनको चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ने के (कारण) उनकी वैद्य चिकित्सा नहीं करते हैं। वे (सचमुच) (अपने) मन के (ही) चिकित्सक होते हैं।

151. विकृतियों से रहित आवास के कारण तथा नियन्त्रित आसन के कारण, अल्प मात्रा में आहार (करने) के कारण (और)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

152 जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।

153 दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि ।।

154 दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ।।

155 आहारोसह-सत्थाभय-भेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ।।

156 जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयमित की हुई इन्द्रियों के कारण आसक्तिरूपी शत्रु (विवेकी मनुष्य के) मन को विचलित नहीं करता है, (जैसे) औषधियों द्वारा नष्ट किया हुआ व्याधिरूपी शत्रु (व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करता है)।

152. जब तक (किसी को) बुढ़ापा नहीं सताता है, जब तक (किसी के) रोग नहीं बढ़ता है, जब तक (किसी की) इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती है, तब तक (उसको) धर्म (आध्यात्मिकता) का आचरण कर लेना चाहिए।

153. (अपने तथा समाज के विकास के लिए) जन्म, मरण और बुढ़ापे से रहित अर्हन्तों द्वारा (इस) जगत् में दो ही मार्ग (जीवन पद्धतियाँ) कहे/कही गये/गई (हैं)। (एक मार्ग का पथिक) अच्छा श्रमण (कहा गया है) और (दूसरे मार्ग का पथिक) अच्छा श्रावक (कहा गया है)।

154. श्रावक धर्म (गृहस्थ जीवन) में दान और आध्यात्मिक व्यक्तियों की भक्ति प्रमुख होती है। उस (एक) के बिना (भी) (व्यक्ति) श्रावक नहीं (कहे जाते हैं)। श्रमण-धर्म में ध्यान और स्वाध्याय प्रमुख (होता है)। उसी प्रकार उस (एक) के बिना व्यक्ति (श्रमण) भी नहीं (कहा जाता है)।

155. जो दान चार प्रकार का कहा जाता है, (उसका) विभाजन, आहार, औषध, शास्त्र तथा अभय के रूप में है। वह (दान) दिया जाना चाहिए। (ऐसा) उपासकाध्ययन में वर्णित (है)।

156. निश्चय ही जागरूकता अध्यात्म की माता (है), निश्चय ही जागरूकता अध्यात्म की रक्षा करने वाली (है), जाग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

157 जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ।।

158 णाणेण ज्झाणसिज्झी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।

159 णाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी ।
संसारकरणबीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ।।

160 लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ ।।

161 न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगा-इएहिं, झाणोवगयचित्तो ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूकता उसकी (अध्यात्म की) वृद्धि करने वाली है (तथा) जागरूकता (ही) निरपेक्ष सुख को उत्पन्न करने वाली है।

157. (व्यक्ति) जागरूकतापूर्वक चले, जागरूकतापूर्वक खड़ा रहे, जागरूकतापूर्वक बैठे, जागरूकतापूर्वक सोये (ऐसा करता हुआ तथा) जागरूकतापूर्वक भोजन करता हुआ (और) बोलता हुआ (व्यक्ति) अशुभ कर्म को नहीं बांधता है।

158. ज्ञान से ध्यान की सिद्धि (होती है); ध्यान से सब कर्मों का क्षय (होता है); (कर्मों के) क्षय का फल मोक्ष (है); इस लिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

159. ज्ञानमय वायु से युक्त (तथा) शील द्वारा जलाई गई तपमय अग्नि संसार को उत्पन्न करने वाले बीज को भस्म कर देती है, जैसे कि दावाग्नि (जंगल की आग) तृण-राशि को (भस्म) कर देती है)।

160. जैसे जल के संयोग होने पर लवण विलीन हो जाता है, (वैसे ही) जिसका चित्त ध्यान में (विलीन हो जाता है), उसके (जीवन में) शुभ-अशुभ (कर्म) को भस्म करने वाली आत्माग्नि (आत्मानुभवरूपी अग्नि) प्रकट होती है।

161. चित्त (जिसके द्वारा) ध्यान प्राप्त किया गया (है), (वह) कषाय (राग-द्वेष) से उत्पन्न ईर्ष्या (जलन), निराशा, अफ-सोस आदि मानसिक कष्टों (तनावों) द्वारा परेशान नहीं किया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

162 जह चिरसंचियमिंधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ ।।

163 जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।

164 धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं ।
तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ।।

165 सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई ।
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ।।

166 जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ।।

167 जम्हा ण णएण विणा, होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती ।
तम्हा सो बोहव्वो, एयंतं हंतुकामेण ।।

168 णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

162. जैसे दीर्घ काल तक संचित ईंधन को पवन-सहित अग्नि तुरन्त भस्म कर देती है, वैसे ही ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित कर्मरूपी ईंधन को क्षणभर में भस्म कर देती है।

163. जरा-मरण के प्रवाह के द्वारा बहा कर ले जाए जाते हुए प्राणियों के लिए धर्म (अध्यात्म) टापू (आश्रय गृह) (है), सहारा (है), रक्षास्थल (है) तथा उत्तम शरण (है)।

164. धैर्यवान् के द्वारा भी (आवश्यक रूप से) मरा जायगा, (तथा) कायर पुरुष के द्वारा भी आवश्यक रूप से मरा जायगा; इसलिए (इस) अवश्य मरण में धीरता के साथ मरने के लिए (समर्थ होना) निश्चय ही अधिक अच्छा है।

165. सेनापति के निहत (मारा हुआ) होने पर जिस तरह सेना नष्ट हो जाती है, अर्थात् भाग जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय को प्राप्त होने पर कर्म नष्ट हो जाते हैं।

166. जिसके बिना लोक का व्यवहार बिलकुल नहीं निभता है, उस, मनुष्यों के केवल मात्र गुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार।

167. चूँकि नय के बिना मनुष्य के स्याद्वाद का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए एकान्त (दृष्टि) को समाप्त करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा वह (नय) समझा जाना चाहिए।

168. निश्चय ही वस्तु अनेक धर्मों (गुणों) से युक्त (होती है), उसके एक (गुण) के कहने की इच्छा से एक गुण ही कहा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

169 सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ।।

170 णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जेज्जा ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है, क्योंकि (उस समय) शेष (गुणों) के कहने की इच्छा नहीं (है)।

169. अपने अपने (कथन) की प्रशंसा करते हुए तथा (अपने से) भिन्न (कथन) की निन्दा करते हुए जो उस अवसर पर विद्याडम्बरी की तरह आचरण करते हैं, वे संसार (विषमता) पर विविध तरह से आश्रित हुए (हैं)।

170. भांति-भांति के जीव (हैं), भाँति-भाँति का (उनका) कर्म है, (तथा) भिन्न-भिन्न प्रकार की (उनकी) योग्यता होती है; इसलिए स्व-पर मत से वचन-कलह को (तुम) दूर हटाओ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ चुनी हुई वाक्य-मणियाँ
समणसुत्तं–चयनिका

1. **पंच गुरवे झायहि** 6/6 = पाँच गुरुओं (आध्यात्मिक स्तंभों) को ध्याओ।
2. **तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा आइरिया मम पसीदंतु** 9/9 = समकालीन स्व-पर सिद्धान्त को धारण करने वाले आचार्य मेरे लिए मंगलप्रद हों।
3. **पंचक्खरनिप्पण्णो ओंकारो** 12/12 = पाँच अक्षरों से बना हुआ ओम् (होता है)।
4. **ससमय-परसमयविऊ पवयणसारं परिकहेउं जुत्तो** 14/23 = स्व-सिद्धांत तथा पर-सिद्धांत का ज्ञाता (व्यक्ति) (ही) प्रवचन के सार को कहने के लिए योग्य (होता है)।
5. **जं इच्छसि अप्पणतो, तं परस्स इच्छ** 15/24 = स्वयं से (स्वयं के लिए) जो कुछ चाहते हो, उसको (ही) (तुम) दूसरे के लिए चाहो।
6. **संघो सव्वेसिं अम्मापितिसमाणो होइ** 16/27 = (श्रमण) संघ सब प्राणियों के लिए माता-पिता के समान होता है।
7. **जस्स गुरुम्मि न भत्ती, गुरुकुलवासेण किं तस्स ?** 17/29 = जिसकी गुरु में भक्ति नहीं हैं, उसका गुरु के सान्निध्य में रहने से क्या लाभ ?
8. **कामभोगा अणत्थाण खाणी** 18/46 = काम भोग अनर्थों की खान (होते हैं)।
9. **इंदिअविसएसु सुहं नत्थि** 19/47 = इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं (है)।
10. **अहो सुबद्धो कवडगंठी** 22/51 = आश्चर्य ! कपट की गाँठ दृढ़ बाँधी हुई है।
11. **अहो दुक्खो हु संसारो** 26/55 = खेद ! संसार ही दुःख है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12. **कम्मं चिणंति सवसा** 28/60 = (जब व्यक्ति) कर्म को चुनते हैं, (तो) (वे) स्वाधीन (होते हैं)।
13. **तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति** 28/60 = किन्तु उसके (कर्म) के विपाक में (व्यक्ति) पराधीन होते हैं।
14. **मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ** 30/68 = जीव मिथ्यात्व को भोगता हुआ विपरीत दृष्टि होता है।
15. **मिच्छत्तपरिणदप्पा जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा** 31/69 = मिथ्यात्व के द्वारा परिवर्तित आत्मा जीव और देह को एक मानता हुआ बहिरात्मा होता है।
16. **तं तवसंजमभंडं तूरंतो गिण्हाहि** 35/74 = तू तप-संयमरूपी उपकरण को शीघ्रता करते हुए ग्रहण कर।
17. **भावे विरत्तो मणुओ विसोगो** 39/81 = वस्तु-जगत् से विरक्त मनुष्य दुःख रहित (होता है)।
18. **जीवाणं रक्खणं धम्मो** 41/83 = जीवों की रक्षा करना धर्म है।
19. **मित्ती मे सव्वभूदेसु** 43/86 = मेरी सब प्राणियों से मित्रता है।
20. **वेरं मज्झं ण केण वि** 43/86 = किसी से भी मेरा वैर नहीं है।
21. **खम्मामि सव्वजीवाणं** 43/86 = (मैं) सब जीवों को क्षमा करता हूं।
22. **सव्वे जीवा खमंतु मे** 43/86 = सब जीव मुझे क्षमा करें।
23. **सच्चम्मि तवो वसदि** 47/96 = सत्य (बोलने) में तप होता है।
24. **सच्चम्मि संजमो वसे** 47/96 = सत्य (बोलने) में संयम होता है।
25. **इच्छा आगाससमा अणन्तिया** 48/98 = इच्छा आकाश के समान अन्तरहित (होती है)।
26. **अप्पसक्खिओ जहट्ठिओ धम्मो** 59/121 = आत्म-साक्षीपन वास्तविक धर्म है।
27. **सुप्पट्ठिओ अप्पा मित्तं** 61/123 = शुभ में स्थित (स्व)-आत्मा मित्र है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

28. **दुप्पट्ठिय अप्पा अमित्तं** 61/123 = अशुभ में स्थित (स्व)-आत्मा शत्रु है।

29. **अप्पाणमेव जुज्झाहि** 64/126 = अपने में (अंतरंग राग-द्वेष से) ही युद्ध कर।

30. **किं ते जुज्झेण बज्झओ** 64/126 = बहरिंग (व्यक्तियों) से युद्ध करने से तेरे लिए क्या लाभ ?

31. **अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए** 64/126 = अपने में ही अपने (राग-द्वेष) को जीत कर सुख बढ़ता है।

32. **अप्पा हु खलु दुद्दमो** 65/127 = आत्मा ही सचमुच कठिनाई से वश में किया जाने वाला (होता है)।

33. **अप्पा चेव दमेयव्वो** 65/127 = आत्मा ही वश में किया जाना चाहिए।

34. **अप्पा दंतो सुही होइ** 65/127 = वश में किया हुआ आत्मा (ही) सुखी होता है।

35. **कोहो पीइं पणासेइ** 70/135 = क्रोध प्रेम को नष्ट करता है।

36. **माणो विणयनासणो** 70/135 = मान विनय का नाशक (होता है)।

37. **माया मित्ताणि नासेइ** 70/135 = कपट मित्रों को दूर हटाता है।

38. **लोहो सव्वविणासणो** 70/135 = लोभ सब (गुणों का) विनाशक (होता है)।

39. **उवसमेण कोहं हणे** 51/136 = क्षमा से क्रोध को नष्ट करें।

40. **संतोसओ लोभं जिणे** = 51/136 = संतोष से लोभ को जीते।

41. **जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं** 74/142 = जो ममता-वाली वस्तु-बुद्धि को छोड़ता है, वह ममतावाली वस्तु को छोड़ता है।

42. **इंदियगुत्ती असंगत्तं** 76/146 = इन्द्रिय-संयम अनासक्तता (है)।

43. **सव्वे जीवा जीविउं इच्छंति** 78/148 = सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

44. **सव्वे जीवा मरिज्जिउं न इच्छंति** 78/148 = कोई भी जीव मरने की इच्छा नहीं करते हैं।

45. **जह ते न पिग्रं दुक्खं एमेव सव्वजीवाणं न पिग्रं दुक्खं** 79/150 = जैसे तुम्हारे (अपने) लिए दुःख प्रिय नहीं है इसी प्रकार (दूसरे) सब जीवों के लिए दुःख प्रिय नहीं है।

46. **अत्तोवम्मेण कुणसु दयं** 79/150 = अपने से तुलना के द्वारा (जीवों के प्रति) सहानुभूति रक्खो।

47. **जीववहो अप्पवहो होइ** 80/151 = जीव का घात खुद का घात होता है।

48. **जीवदया अप्पणो दया होइ** 80/151 = जीव के लिए दया खुद के लिए दया होती है।

49. **अज्झवसिएण बंधो** 83/154 = (हिंसा के) विचार से ही कर्म बंध होता है।

50. **अहिंसासमं धम्मं नत्थि** 85/158 = अहिंसा के समान धर्म नहीं है।

51. **सुवंताणं पुरीसाण अत्था लोगसारत्था सीतंति** 87/161 = सोते हुए पुरुषों के परमार्थ और लोक में सर्वोत्तम प्रयोजन (दोनों ही) नष्ट हो जाते हैं।

52. **धम्मीणं जागरिया सेया** 88/162 = धर्मात्माओं का जागरण (सक्रिय होना) सर्वोत्तम (होता है)।

53. **अहम्मीणं सुत्तया सेया** 88/162 = अधर्मात्माओं का सोना (निष्क्रिय होना) सर्वोत्तम (होता है)।

54. **नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं** 91/167 = आलस्य के साथ सुख नहीं (रहता है)।

55. **न विज्जा सह निद्दया** 91/167 = निद्रा के साथ विद्या (संभव) नहीं (होती है)।

56. **न वेरग्गं ममत्तेणं** 91/167 = ममत्व के साथ वैराग्य (घटित) नहीं (होता है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

57. **नारंभेण दयासुया** 91/167 = जीव-हिंसा के साथ दयालुता नहीं (ठहरती है)।

58. **जागरह नरा ! णिच्चं** 92/168 = हे मनुष्यों ! तुम निरंतर जागो (आध्यात्मिक मूल्यों में सजग रहो)।

59. **जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी** 92/168 = जागते हुए (व्यक्ति) की प्रतिभा बढ़ती है।

60. **जो सुवति ण सो धन्नो** 92/168 = जो सोता है, वह सुखी होता है।

61. **जो जग्गति सो सया धन्नो** 92/168 = जो सदा जागता हैं, वह सुखी होता है।

62. **अविणीअस्स विवत्ती** 93/170 = अविनीत के अनर्थ (होता है)।

63. **विणीअस्स संपत्ती** 93/170 = विनीत के समृद्धि (होती है)।

64. **दीवसमा आयरिया दिप्पंति परं च दीवेंति** 99/176 = दीपक के समान आचार्य (स्वयं) प्रकाशित होते हैं तथा दूसरों को प्रकाशित करते हैं।

65. **कियाहीणं नाणं हयं** 115/212 = क्रियाहीन ज्ञान निकम्मा (होता है)।

66. **अण्णाणओ किया हया** 115/212 = अज्ञान से (की हुई) क्रिया निकम्मी (होती है)।

67. **ववहारा जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं** 117/220 = व्यवहार से जीवादि (तत्वों) में श्रद्धा सम्यक्त्व (है)।

68. **णिच्छयदो अप्पा सम्मत्तं हवइ** 117/220 = निश्चय से आत्मा सम्यक्त्व होती है।

69. **तेलोक्कलंभाओ सम्मद्दंसणलंभो वरं** 120/225 = त्रिलोक के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ अच्छा हैं।

70. **सम्मदिट्ठी जीवा णिब्भया होंति** 123/232 = सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

71. संसारे गओ वि ससुत्तो जीवो न नस्सइ 128/248 = संसार में स्थित भी नियम-युक्त व्यक्ति बर्बाद नहीं होता है।

72. जेण चित्तं णिरुज्झदि, तं णाणं जिणसासणे 129/252 = जिससे चित्त संयमित किया जाता है, वह जिन-शासन में ज्ञान है।

73. जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे 130/253 = जिसके द्वारा मित्रता उत्पन्न की जाती है, वह जिनशासन में ज्ञान है।

74. चरणविप्पहीणस्स सुयमहीयं किं काहिइ 135/266=चरित्रहीन (व्यक्ति) के द्वारा पढ़ा हुआ श्रुत क्या (प्रयोजन) सिद्ध करेगा ?

75. जो चरित्त हीणो, किं तस्स बहुएण सुवेण 136/267 = जो चरित्रहीन है, उसके बहुत श्रुत-ज्ञान से भी क्या लाभ ?

76. जो चरित्तसंपुण्णो थोवम्मि सिक्खिदे बहुसुदं जिणइ 136/267=जो चरित्रयुक्त है (वह) अल्प शिक्षित होने पर (भी) विद्वान् को मात कर देता है।

77. अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि 144/281 = आंतरिक शुद्धि से बाह्य शुद्धि भी होती है।

78. जाव जरा न पीलेइ, ताव धम्मं समायरे 152/295 = जब तक बुढ़ापा नहीं सताता है, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

79. जाव वाही न वड्ढई, ताव धम्मं समायरे 152/295 = जब तक रोग नहीं बढ़ता है, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

80. जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे 152/295 = जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती हैं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

81. जयणा उ धम्मजणणी 156/394 = निश्चय ही जागरूकता अध्यात्म की माता है।

82. जयणा धम्मस्स पालणी चेव 156/394 = निश्चय ही जागरूकता अध्यात्म की रक्षा करनी वाली है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

83. **णाणेण ज्झाणसिज्झी** 158/478 = ज्ञान से ध्यान की सिद्धि (होती है)।

84. **झाणोवगयचित्तो ईसा-विसाय-सोगा-इएहिं न वहिज्जइ** 161/502 = ध्यान को प्राप्त चित्त ईर्ष्या, निराशा, अफसोस आदि द्वारा परेशान नहीं किया जाता है।

85. **धम्मो सरणमुत्तमं** 163/525 = अध्यात्म उत्तम शरण (है)।

86. **भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स** 166/660 = मनुष्यों के केवल मात्र गुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार।

87. **णाणाधम्मजुदं पि अत्थं** 168/724 = निश्चय ही वस्तु अनेक धर्मों (गुणों) से युक्त (होती है)।

88. **सगपरसमएहिं वयणविवादं वज्जिज्जा** 170/735 = स्व-पर मत से वचन-कलह को (तुम) दूर हटाओ।

———

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Samanasuttam Cayanika

(English Translation)

1. Obeisance to Arahantas (embodied spiritually perfect personalities). Obeisance to Siddhas (disembodied spiritually perfect souls). Obeisance to Ācāryas (propagators of eithico-spiritual values). Obeisance to Upādhyāyas (teachers of ethico-spiritual values). Obeisance to all the Sādhus (pious personalities) in the world,

2. This five-fold obeisance is the destroyer of all the vices and (so) among all the (types of) auspiciousness (this) becomes the fore-most auspiciousness.

3. Arahantas are auspicious. Siddhas are auspicious. Sadhus are auspicious. Dharma (ethico-spiritual values) preached by the omniscient is auspicious.

4. Arahantas are excellent in the world. Siddhas are excellent in the world. Sādhus are excellent in the world. Dharma (ethico-spiritual values) preached by the omniscient is excellent in the world.

5. I resort to the shelter of Arahantas. I resort to the shelter of Siddhas. I resort to the shelter of Sādhus. I

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

resort to the shelter of the Dharma (ethico-spiritual values) preached by the omniscient.

6. Meditate on the five holy teachers (spiritual pillars) who are permeated with spiritual energy, who are auspicious, who are the shelters in the four grades of existence, who have adorned the world, who are the supreme objects of devotion, and who have been adored by the human and celestial beings along with the Vidyadharas (human beings moving in the sky by means of supernormal powers).

7. May the Arahantas who are the annihilators of the dense obscuring* Karmas (psycho-physical impurities), who are like the sun for the lotus of releasable souls existent in the three worlds, who possess infinite knowledge and also experience unique bliss, be victorious in the world.

8. May the Siddhas who are devoid of eight Karmas**

---

* Karmas which obscure the nature of self.

** The eight types of Karmas are : (1) Knowledge-obscuring (2) Intuition—obscuring (3) Feeling—producing, (4) Delusion—producing, (5) Longevity—determining, (6) Body—Making, (7) Status—determining and (8) Obstruction—generating.

(1–2) that which obscures knowledge and intuition. (3) That which holds up natural bliss and produces pleasure and pain. (4) That which obstructs spiritual awakening and ethico-spiritual conduct. (5) That which determines the period of stay of self in a particular body. (6) That which is responsible for the making of a particular body. (7) That which determines status in society. (8) That which causes handcaps in charity, in gains and in self-power.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(psycho-physical impurities), by whom all the purposes have been accomplished, by whom (their own) reincarnations in the world have been put to an end, by whom the essence of all the substances has been known, show me the path to liberation.

9. May the Ācāryas who have acquired exalted position by observing five Mahāvratas (complete vows), who possess contemporary knowledge of their own faith and that of others and who have been saturated with diverse clusters of virtues, do good to me.

10. May the Upādhyāyas who are the illuminators of the mundane souls wandering in the dense darkness of ignorance which is difficult to cross, impart supreme understanding (to me).

11. May the Sādhus who abound in glory, by whom the garland of virtues has been steadily sustained, by whon attachment has been cast aside and by whom the parts of the body have been adorned with immense modesty, bestow happiness on me.

12. Arahantas, Aśarīras (Siddhas), Ācāryas, Upādhyāyas and Munis are the five holy personalities (spiritual pillars). Oṁkāra has emerged from the first letters (A + A + Ā + U + M) of the five holy personalities.

13. The meaning revealed by the Arahanta (embodied spiritually perfect personality) has been properly worded by the Gaṇadharas (chief disciples of the Arahanta). So by bowing my head with devotion, I make obeisance to the ocean of (worded) scriptural knowledge.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

14. He who is the knower of his own faith and that of the others, who is profound, resplendent, benevolent, tranquil and who has been endowed with hundreds of virtues, is capable of delivering the essence of the doctrine (preached by the Arahantas).

15. Whatever you desire from yourself (for yourself) and whatever you do not desire from yourself (for yourself), desire that for others and (do not desire that for others). This much is the law of Jina.

16. The (śramana) Saṁgha (order of saints) is the assurance, the consolation (and) the refuge of all beings. (It) is (providing mental calmness) like an air-conditioned house and is (affectionate) like parents. Do not, therefore, be frightened.

17. For him who keeps no devotion for the Guru (spiritual teacher), has no reverence for him, takes no pride in him, experiences no awe of him, feels no modesty in his presence, and who maintains no affection for him, what is the sense of his remaining with the Guru ?

18. Sensuous pleasures are undoubtedly the mine of misfortunes. (They) are pleasureful for a moment, (and) painful for a long time; (they) are much painful (and) very little pleasureful; (they) are opposed to the pleasures of the world and happiness of liberation.

19. Just as in the plantain tree there is no where any substance (stem to be seen) in spite of its being searched well, so also there is no (experience of) happiness in sensuous objects even if it has been investigated thoroughly.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

20. Just as an itchy (person) scratching himself regards that suffering (caused by itching) as pleasure, so also the infatuated persons consider suffering caused by desire to be pleasure.

21. The ignorant, dull and foolish person who is absorbed in the vice of craving for sensuous enjoyments, who is of perverted mind in regard to prosperity and spiritual upliftment is bound by Karmas (psycho-physicial impurities), just as a fly is caught in phlegm.

22. (Though) the suffering greatly caused by birth, old age and death is apprehended and contemplated, yet one is not able to detach oneself from the sensual pleasures. Oh ! the knot of hyposcrisy has been tied strongly.

23 to 25. In the person who is really involved in the world, the impure psychical states occur because of this (involvement). From the impure psychical states the Karma (impure material particles) as such comes into being and from the Karma (his) transmigration in the (four) grades of existence takes place.

24. From the Jiva who has transmigrated to a grade of existence, the body arises and from the body senses come into being. By means of the senses, there is the seizing of the sense-objects. By reason of that attachment and aversion occur.

25. Thus during the transmigration of Jiva, there arise in him psychical states (of attachment and aversion) which are beginningless and endless or (they) are (beginningless)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(and) having an end (because of his developing spiritual awakening, value-knowledge and ethico-spiritual conduct). This has been pronounced by the Arahantas (embodied spiritually perfect personalities).

26. Birth is suffering; old age is suffering; diseases and deaths are suffering. Oh! the mundane existence as such where the Jīvas are unhappy is suffering.

27. Whenever the Jīva (person) gets associated with whatever psychical states, he binds (accordingly) the auspicious and inauspicious Karmas (material particles) at that time.

28. (When men) choose the Karma (action for Karmic bondage) (they) are free; but in the rise of that (bound) Karma, (they) become dependent, (as when one) climbs a tree, one is free; (but when) one falls from it, one becomes dependent (choiceless).

29. (Somewhere) the Jīvas are subject to Karmas (psycho-physical impurities) and somewhere Karmas are subject to Jīvas; (as) somewhere the money-lender is powerful and somewhere the debtor is powerful.

30. The Jīva (person) experiencing spiritual perversion becomes perverted in his attitude. Again, he does not like the virtuous path, as the person down with fever does not relish even the sweet juice.

31. The self overcome by spirititual perversion has been greatly overpowered by intense passion (and) (he), believing in the identity of self and body, becom eesth perverted self.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

32. The basis of Karma (Karmic bondage) is attachment and aversion; Karma arises even from spiritual forgetfulness. Jinas (spiritual victors) say so. Certainly, Karma is the source of birth and death; Birth and death are undoubtedly suffering. Jinas say so.

33. The enemy, though very powerful, yet (even when) greatly offended, does not bring about that harm which both the unrestrained attachment and aversion occasion.

34. For the Jiva distressed by the sufferings of birth, old age, and death, there is no happiness in the world. Therefore, (for him) liberation alone is the proper object to be accepted.

35. O Virtuous (one) ! if you desire to cross the deep ocean of mundane existence, accept being quick, the means of austerity and self-restraint.

36. Whatever bodily and mental suffering exists in the life of all men along with gods, that arises only from great attachment to desires. But the dispassionate one puts an end to that suffering.

37. That by virtue of which detachment results should be pursued with complete devotedness. The completely detached person becomes free from Karmic bondage. But the attached one is not the destroyer of Karmic bondage.

38. From the transcendental standpoint, this body is different (from the self) and the self is also different (from the

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

body). (Therefore), from the body remove attachment which is unpleasent and greatly distressful.

39. The person who is detached from the world of things becomes free from sorrow. In spite of his being in the world, he is not defiled by the uninterrupted current of sufferings, just as the leaf of the lotus-plant is not defiled by water.

40. That which is Ahiṁsā (non-violence), self-restraint and austerity is Dharma (spiritual value). It is by virtute of the Dharma (spiritual values) that supreme spiritual beneficence results. To him whose mind is (absorbed) in the Dharma (spiritual values) even gods pay homage.

41. The basic nature of a (sentient) thing is known as Dharma (spiritual value); the mental states of forgiveness etc. are ten kinds of Dharma (spiritual values); the togetherness of three Jewels is also Dharma (spiritual value); and again the protection of Jīvas (beings) is Dharma (spiritual value).

42. In the life of the person who, on the occasion of formidable affliction which is being created by gods, men and animals, is not excited by anger, there exists unsullied forgiveness.

43. I forgive all the beings. May all the beings forgive me. My amity is with all the beings and enmity with none.

44. To the person who does not think in a devious way, who does not act in a devious way, who does not speak in a

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

devious way and who does not conceal his faults, the virtue of straightforwardness occurs.

45. In the life of the saint (or householder) who, having shunned the speaking of those words which act as the cause of agonising state of mind in others, speaks words beneficial to himself and to others, there appears the fourth virtue of truthfulness.

46. In the human world, the truthful person is trustworthy like the mother, is venerable like the teacher and (he) is loveable to all like the Kinsmen.

47. In (speaking) the truth, there is austerity, in (speaking) the truth, there is self-restraint, and (in speaking the truth) the rest of all the virtues too are observed. Again truth (speaking) is the basis of all the virtues, as the, storage of water is the support of the fishes.

48. Even if, by chance, countless mountains of silver and gold like the Kailāśa (mountain) may present themselves to the greedy person, he is not satisfied by them in the least, inasmuch as desire is unending like the sky.

49. In the life of that person who washes the heap of the dirt of intense greed through the (pure) water of complete contentment and who is devoid of covetedness for food, there exists the virtue of unsullied purity.

50. For him who, having adopted self-restraint in passions and sensuous enjoyments, contemplates the self through meditation and study, (for him)there is austerity as a rule.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

51. In the life of that person who, having renounced attachment to things, reflects on the three-fold means of detachment from mundane existence, renunciation occurs. This has been proclaimed by the Arahantas (embodied spiritually perfect personalities).

52. He who turns his back upon the alluring and likeable pleasures which have been obtained (by him) and (also) abandons the pleasures at his own disposal, is really a renunciatory. It is said so.

53. (Transcendentally), I am for certain the highest and the pure (self). Again, I am everlastingly free from material qualities and also I am possessed of intuition and knowledge. Apart from the self, even the slightest any other infinitesimal quantity of thing does not belong to me.

54. We, to whom nothing belongs, live and reside happily. (This proclamation is similar to that of king, Janaka who said), "In Mithilā which is being burnt, nothing which is mine is being put to flame" (That is the reason we live and reside happily).

55. Just as the lotus which is born of water is not polluted by water, so also there is the person who has not been contaminated by sense-desires, we call him the realiser of the highest self.

56. In whose life there is no attachment, by him suffering has been extirpated; in whose life there is no desire, by him attachment has been uprooted; in whose life there is

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

no greed, by him desire has been eradicated; in whose possession there is nothing, by him greed has been wiped out.

57. Having dissolved sexual attachments which are exceedingly difficult to be dissolved, if the person lives in society, the rest of his attachments also disappear. As for instance, if the person, having crossed the ocean, has come out of it, it becomes, then, easy for him to cross the rivers like the Gaṅgā.

58. The night that passes does not return. The nights of the man committing vicious acts pass in vain.

59. The self knows by the self that real Dharma (spiritual value) is self-seeingness. The self does this in such a way that he becomes the attainer of self-caused happiness.

60. (My) self alone is the river Vaitarani* (the self alone is fraught with vices); (my) self alone is the Kūṭaśālmali tree+ for me (the self alone is distressful for himself); (my) self alone is the Kamadudha cow° (the self alone is the yielder of desired objects for himself) and (my) self alone is the Indra's garden for me (the self alone is the pleasureful dwelling for himself).

---

* River Vaitaraṇi : A river in the hell.

\+ Kūtaśālmali tree : A tree in the hell with sharp thorns.

° Kāmadudhā cow : A mythological cow satisfying all the desires.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

61. The self is the doer of pleasure and pain and their non-doer also. The self established in virtue is his own friend, and the self established in vice is his own enemy.

62. (Succinctly speaking), (we may say that) the unconquered self alone is (our own) enemy. (Speaking in detail), (we may also say that) passions and sense-object-attachment are (our own) enemy. Oh wise (one)! (therefore) (I), having conquered them in a proper way, dwell in the world of things and beings.

63. One may conquer thousands by the thousands in a battle difficult to be conquered and the (other) one may conquer one's own self, (out of these two) the victory of the one who conquers one's own self is paramount.

64. What is the use of one's battling with the external (persons)? One should make battle (with internal attachment and aversion) in one's own self. (The truth is that) having conquered one's own (attachment and aversion) in one's own self, one's happiness heightens.

65. (Though) verily, the self is difficult to be restrained, (yet) the self alone should be restrained. (The reason is that) the self who has been restrained becomes happy in this world and the next.

66. The (my) self restrained by me through self-denial and austerity is better; but being curbed by others through imprisonment and violent attack, I am not better.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

67. One should withdraw from one side and move to the other. One should withdraw from self-unrestraint and move to self-restraint.

68. Just as the horses have been curbed by reins, so also by means of knowledge and meditation and also through the strength of austerity, the passions and sensual pleasures are strongly restrained.

69. That wound, debt, fire and passion (though) they may be existing even in a small quantity should not be ignored by one, since despite their being negligible (in quantity), each one of them is undoubtedly very much.

70. Anger dissolves affection; pride is subversive of modesty; hypocrisy throws out friends and greed is destructive of everything.

71. Man should subvert anger by peaceful disposition, subdue pride by modesty, overcome hypocrisy by simplicity and greed by contentment.

72. Just as the tortoise draws its limbs in its body, so also the wise man does away with the vices by means of spirituality.

73. The person who commits wrong action consciously or unconsciously should immediately restrain himself (and then) he should not commit it the second time.

74. He who renounces inclination to a thing causing attachment renounces the thing causing attachment. He for whom there does not exist anything causing attachment,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(he) alone is the knower (by whom) spiritual path has been comprehended.

75. The person destitute of all possessions is always tranquil and joyful. Even the emperor does not get at that final beatitude which the person destitute of all possessions attains.

76. Just as there is the iron hook for (controlling) the elephant and there is the moat for (the protection of) the city, so also the renunciation of possession is (useful) in restraining the senses and the restraint of senses is no doubt non-attachment.

77. The essence of being wise is really this that the wise person does not injure any being whatsoever. The Jina (spiritually victorious), having known Ahiṁsā (non-violence) and Samatā (equanimity) so important, tells us this.

78. All the Jīvas (beings) desire to live and not to die. Self-restraining persons, therefore, give up the distressful taking away of Prāṇas (vital forces).

79. Pain is not dear to oneself; having known this regarding all other Jīvas (beings), one should give affection to all the Jīvas (beings) adequately. And by reason of the equality with one's own self, one should keep sympathy with all of them.

80. Killing a Jīva (being) is killing one's own self; compassion for the Jīva (being) is compassion for one's own

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

self. By reason of this, injury to all the Jīvas (beings) has been abandoned by those desirous of self-realisation.

81. Lo ! undoubtedly you are the one whom you consider fit to be killed. Lo ! undoubtedly you are the one whom you consider fit to be governed.

82. The non-emergence of attachment, etc. (on the surface of self) is non-violence. This has been said so in the scriptures. If their emergence occurs, that has been for certain styled violence by the Jina (spiritually victorious).

83. One may kill the Jīvas (beings) and one may not kill them; (but) by the mere thought of killing them, there is bondage of Karma (material particle). This, according to the transcendental point of view, is the sum and substance of Karmic bondage occuring in the Jīvas (persons).

84. The self is Ahiṁsā (non-violence) and the self is Hiṁsā (violence). In the Āgama such a firm conviction has been expressed. He who is devoid of carelessness is styled 'non-violent'. He who is careless is styled 'violent'.

85. Just as in the world there is nothing higher than the Meru mountain and nothing more extended than the sky, so also (in the world) there is no virtue (excellent and universal) corresponding to Ahiṁsā (non-violence). know this.

86. This thing is in my possession and this thing is not in my possession; this (action) is my duty and this (action) is not my duty; death over-takes that man speaking in

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

this way again and again. Hence why should spiritual ignorance be entertained ?

87. The (supra-worldly) supreme objectives and the best worldly purposes—(both the things) in regard to the sleeping man perish, so waking, all of you should annihilate the old Karmas (psycho-physical impurities).

88. The waking of the virtuous and the sleeping of the vicious—(both the things) are excellent. The Jina (spiritually victorious) (Mahāvīra) told this to Jayantī, the sister of the king of Vatsa-country.

89. An erudite person with profound wisdom and a person of awakened life should not rely upon those who are asleep (forgetful of spiritual values), the moments of time are cruel and the body is feeble, (so) each of the two should move on like an awakened Bharanda-bird.

90. The ignortant do not annihilate the Karma (filth attached to the soul) through actions (with attachment). The wise annihilate the Karma through non-action (actions without attachment). The wise have gone away from greed and pride and the contented do not perpetrate vice.

91. Pleasure does not occur with indolence; learning is not possible with sleepy disposition; detachment does not remain with attachment; and compassionateness does not go with injury to beings.

92. O men ! keep always awake. The intellect of the awakened sharpens. He who sleeps (ignores spiritual

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

values) does not become happy, (but) he who always wakes (adheres to spiritual values) becomes happy.

93. Misfortune is the lot of the immodest and prosperity is the lot of the modest. He by whom this has been understood in two-fold ways, adopts modesty.

94. Well, because of these five causes, namely pride, anger, passion, illness and indolence, education is not acquired.

95-96. Well, the person who is not the ridiculor (of others), who is restrained, and who does not divulge the secrets (of others) is said to be endowed with education. Besides, the person who is not immoral, who is not ill-behaved, who is not excessively greedy, who is not irascible and who is engrossed in the search for truth is also said to be endowed with education. By reason of (these above-mentioned) eight causes (the person is said to be endowed with education).

97. Having studied the scriptures, the person who is engrossed in devotion to scriptures attains value-knowledge and becomes of concentrated mind. (The consequence of which is that) he himself remains firm in values and makes others to remain firm in values.

98. He who always remains with the Guru (spiritual teacher), who is of auspicious tendencies, who is affectionate, who is benevolent and who has an agreeable tongue, is fit to receive education.

99. Just as by means of one lamp a large number to lamps become illuminated and that lamp itself remains illumin-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ated, so also, like a lamp, the Ācārya remains illuminated (with knowledge) and illuminates others (with knowledge).

100. Know it for certain that the Jiva (self) is the repository of excellent characteristics. It is the supreme substance among the substances and the superb spiritual principle among the principies (Tattvas).

101. Selves are of three kinds : perverted selves, awakened selves, and supreme selves. The supreme selves are of two kinds : embodied selves and disembodied selves.

102. The person who recognises that bodily senses are ultimate is called the perverted self; and the person in whom the acceptance of self (as different from the body) is without any doubt is called the awakened self, and the self devoid of all the Karmic taints is called the supreme self. And the supreme self is called the Deva (divine being).

103. By whom all the objects have been apprehended through omniscience and by whom superb happiness has been experienced, (they) are styled Arahantas who are embodied (spiritually perfect personalities). Siddhas are (disembodied), yet they are knowledge-bodied (souls) endowed also with superb happiness.

104. This has been proclaimed by the Arahantas (embodied spiritually perfect personalities) that having renounced the perverted self in threefold ways (mentally, bodily and vocally) and having become an awakened self, (the person desirous of spiritual progress) meditates upon the supreme self.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

105. The Jiva (self) is devoid of taste, colour, odour, and sound. He is imperceptible. Consciousness is his characteristic. His comprehension is without inferential reasoning. His form (of existence) has not been indicated. Know this.

106. Auspicious psychical state is the good; inauspiciout psychical state is the bad. Thus this has been affirmed in other faiths (along with the doctrine of Jina). Bus, in the doctrine of Jina (spiritually victorious), this has been (additionally) propunded that since auspicious and inauspicious psychical states are dependent on the other. they can not be regarded as the cause of destroying suffering (mental tension) as such.

107. By the person who very much desires virtuous action (good mental tension), the worldly life has been accepted Though the virtuous action is the cause of one's happy condition, yet it is by casting aside even the good mental tension (giving rise to virtuous action) that supreme peace (equanimity) occurs.

108. Vicious action is wrong; virtuous action is right. Know this. But (it is unintelligible) how the virtuous action which takes us to mundane existence (mental tension, although good) is considered right ?

109. Just as the fetters made of black iron and those of gold bind the person, so also performed vicious and virtuous action (which cause mental tension) bind the Jiva (person) (to suffering).

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

110. It is, therefore, said that never show any attachment to and never have any association with the impure (mental tension-creating) actions. The reason is that the nature of soul which is free becomes insignificant because of attachment and association with the impure actions.

111. By reason of pursuing vows and austerities i.e. virtuous action, the attainment of 'heaven' (for a person) is better than that of the hell, so that no suffering may exist (in his life). (True it is that) because of perpetrating vicious actions, there will be suffering (for the person) in the hell. (It may be noted that) there is a vast difference between the persons waiting on account of having stayed in (the coolness of) a covered place and in (the heat of) the scorching sun.

112. The abundant kingly prosperity of the emperor which has been extolled by the Vidyadharas+, gods and men through the rows of their folded hands (for salutation), is undoubtedly achieved (by virtue of auspicious psychical states resulting in good mental tensions), but awakening which follows a spiritual person is not achieved thereby.

113. For the person who pursues mere knowledge without conduct, who adopts the form of a Muni (saint) without spiritual awakening and who performs austerity without concentration of mind--all that is of no consequence.

114. For the person who is not a spiritualist, value-knowledge does not grow in life. In the absence of value-knowledge

+ Human beings moving in the sky by means of supernormal powers.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

remarkabilities in (ethico-spiritual) conduct does not arise. For the person who is devoid of conduct emancipation (from Karmas) is not possible, And for the person who is devoid of emancipation (from Karmas), supreme peace (equanimity in life) does not emerge.

115. Knowledge destitute of action is of no consequence; action done from ignorance is also of no consequence. (It is a well known fact that) the lame man, even though al the time seeing the fire, burned and the blind man, even though running, also burned.

116. (Ācāryas) tell (us that) on accomplishing the unity (of knowledge and action) (there issues proper) result, since the chariot (of Dharma) does not move on one wheel (of either knowledge or action). (But) having gathered in the forest they (both) the blind and the lame man, who got united, went to the city.

117. It has been propounded by the Arahantas (embodied spiritually perfect personalities) (that) from the empirical point of view, the belief in the Jiva, etc. (spiritual principles) is styled spiritúal awakening, and (that) from the transcendental point of view, the self alone corresponds with spiritual awakening.

118. Even performing very severe austerities, persons devoid of spiritual awakening do not attain spiritual wisdom even in thousands and crores of years.

119. He (by whom) flawless spiritual awakening has been attained, is unparallelled, (since) he (definitiely) attains

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

supreme peace (equanimty). The person devoid of spiritual awakening does not attain desired beneficence (of equanimity).

120. If the achievement of spiritual awakening is on the one side and the achievement of the three worlds is on the other, (out of these two) the achievement of spiritual awakening is undoubtedly better than that of the three worlds.

121. What is the use of saying much? (It is sufficient to say that) (you) should know the significance of spiritual awakening by virtue of which noble persons have succeeded in the past (in attaing equanimity), and (in future) also noble persons will succeed (in attaining equanimity).

122. Even makings use of things (for sensuous pleasures), a person (may be such that) (because of detachment), he does not remain dependent on them (for attaining supreme peace). On the contrary, even not making use of things (for sensuous pleasures), a person (may be such that) (because of attachment), he becomes dependent on them (with the result that supreme peace always remains unattainable for him). (True it is to say that) even by reason of the effort made for doing good work for the sake of somebody, one does not become related with it (in a strong way), (because of not having any attachment to it). (It can, therefore, be said that because of attachment strong relation with things occur, Karmic bondage results and mental perturbation comes into being).

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

123. The spiritually awakened person are devoid of any doubt (in spirituality), so (they) are fearless. Since (they) are free from the seven kinds of fear, (they) are for certain devoid of any doubt (in spirituality).

124. Oh saint ! if you make efforts to attain the transcendental state of existence (life of equanimity), then, why do you pine for (people's) praise and (their) esteem along with the worldly gains, honourable reception etc. ? For you will there be an entrance through these into the transcendental state of existence ?

125. Whenever the wise person observes in himself that something wrong has been committed by his own mind, body and speech, he should immediately withdrawn from there, just as a horse of good breed immediately withdraws from wrong movements on sensing the (direction of) reins.

126. In the spiritually awakened (one) who is fond of morally excellent persons, who follows them with great regard, who keeps speaking lovable words to them, there exists (in one) the quality of affection towards the virtuous.

127. In whatever manner the wise man is absorbed in an extraordinary spiritual knowledge which is associated with the emergence of happiness, in that manner he becomes happy by reason of experiencing uprecedented states of non-attachment.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

128. Just as a needle with thread, even if fallen in the heap of straw, is not lost, so also the Jiva (person) with moral and spiritual observances, even if absorbed in the world, does not face ruin.

129. In the law of Jina (spiritually victorious) that is knowledge by virtue of which spiritual principle is cognized, mind is curbed and soul is purified.

130. In the law of Jina (spiritually victorious) that is knowledge by which the Jiva (person) becomes free from attachment, by which he is absorbed in the virtue and by which (the feeling of) amity is engendered.

131. The person who knows the self to be unbound and untarnished by Karmas (the filth attached to the soul), who knows its experience to be unparalleled and its being to be (internally) undifferentiated, who knows it to be without occupying any space, without any definition and without any middle point, (he) comprehends the entire law of Jina (the spiritually victorious).

132. Always remain devoted to seeking the knowledge of self, always be content with it, (nay) always be satisfied with it. Then, supreme happiness will occur to you.

133. Just as some person, having obtained treasure of fame, experiences its fruit (in society), so also the wise person, having renounced the habit of getting satisfaction from 'the other', experiences the treasure of self-knowledge (in one's own self).

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

134. Only because of [the absence of virtuous actions (in the life of an individual), mere knowledge is not the effecter of desired peace, just as mere knowledge does not carry to the desired place the knower of a path who is void of efforts or just as the vessell without (the force of) air does not carry one to the desired destination.

135. What purpose will the scriptures studied thoroughly by the person devoid of good conduct, serve? Just as what purpose will the thousands and crores of lamps illumined by the blind man, serve (for him)?

136. Even on having been educated a little, the person who has been occupied with good conduct excels an erudite one; but what is the use of much scriptural knowledge to him who is devoid of good conduct?

137. According to the transcendental standpoint it is said that (when) the self is absorbed in his own self, then, that (absorbtion in the highest self) is certainly transcendental conduct. That saint (who practises this) attains supreme peace.

138. The person who is devoid of all attachments and who is engrossed in the self apprehends and experiences the self in its basic nature. He, certainly pursues spiritual peace.

139. Undoubtedly, ethico-spiritual conduct has been proclaimed to be religion. Again, that which is equanimity has also been certainly proclaimed to be religion. And equanimity is the psychical state of self devoid of

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

attachment and perturbation. (Hence equanimity has been equated with the ethico-spiritual conduct).

140. The psychical state of the Sramana (saint) by whom spiritual principles and the Agamas (scriptures) have been rightly comprehended, who is occupied with austerity and self-restraint, by whom attachment has been done away with, by whom pleasure and pain have been considered to be basically the same, (the psychical state of the Sramana) has been proclaimed to be pure awareness.

141. The state of the enlightened one has been said to be the state of saintliness; the state of the enlightened one has also been proclaimed to be the state of spiritual awakening and spiritual knowledge; again, the state of the enlightened one has been said to be the state of Nirvana (supreme peace). Finally, the enlightened person has deen regarded as the realiser of the highest object in life. Therefore, my reverence is for him.

142. The happiness of those who have been adorned with spiritual experience is excellent, supersensuous, unique, infinite, incessant and is born of the self.

143. In the mind of the saint for whom pleasure and pain are basically the same, there do not exist any attachment and aversion in regard to things and there does not occur spiritual forgetfulness (in his mind). Besides, neither the auspicious (Karma) nor the inauspicious (Karma) creep into his self.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

144. As a rule, there is also external purity of conduct by virtue of internal purification. It is by internal impureness alone that man commits external wrongs.

145. (When) there exists the mental state devoid of lust, conceit, deceit and greed, there occurs unsulliedness in the psychical state (of a person.) For the releasable souls this has been pronounced by the omniscients.

146. Just as vicious acts (bad mental tensions) have been restrained through virtuous acts (good mental tensions), so also virtuous acts (good mental tensions) have been restrained through spiritual experience. Therefore, the yogi (saint) should meditate on his own virtuous and spiritual nature in this successive order.

147. It has been said in the doctrine of Jina (the spiritual victor) that having done conquest over sleep, posture, and (the convetedness for) food and having apprehended the self through the grace of spiritual teacher, one should meditate on one's own self.

148. Service of an experienced person and that of the spiritual teacher, avoidance of a value-ignorant person totally, fortitude, spiritual study, staying in seclusion, and reflection on the meaning of sutras (scriptures)—the group of all these is the means of equanimity (emancipation and bliss).

149. The saint who is the practiser of austerities and who is desirous of deep spiritual meditation should partake of food which is moderate and fit to be consumed, should

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

long for companion possessing discriminating understanding and lofty purpose of life and should choose a proper dwelling known through judicious judgement.

150. (Because of not requiring treatment), the physicians do not treat such persons as are satisfied with the food beneficial to spiritual practices, with the limited choice of that food and with a little quantity of limited food. It fact, they are the physicians of their own mind.

151. Because of (the choice of) dwelling which has been devoid of depravities, because of developing controlled posture, because of consuming a little quantity of food, because of restrained senses, the enemy of attachment does not perturb the mind of a judicious man, as the enemy of disease eradicated by medicines does not attack the cured persons.

152. One should pursue the spiritual path, as long as old age does not afflict, disease does not grow and the senses do not decline.

153. (For social growth and one's own unfoldment) only two paths (modes of life) have been pronounced by the Arahantas (embodied spiritually perfect personalities) who are devoid of birth, death and old-age. (The traveller on the one path) (has been called) authentic Śramaṇa (saint) and (the traveller on the other path) (has been called authentic Sravaka (householder).

154. In the life of the householder two things, namely offering of gifts and paying of reverence to ethico-spiritual person-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

alities are prominent. Even without any one of them, no persons are styled 'Śravakas' (householders). In the life of the saint two things, namely, performance of meditation and pursuance of study are predominant. In the same way even withot any one of them, no body is styled 'Śramaṇa' (saint).

155. The gift is regarded as of our kinds. The division of which lies in food, medicine, books (Scriptures) and fearlessness. The gift of these should be offered. This has been so described in the Upāsakādhyayana (book of the householder).

156. Surely, awakening is the mother of spirituality; surely, awakening is the fosterer of spirituality; awakening is its enhancer and awakening is the begetter of unconditional happiness.

157. One should move with awakening, stand with awakening, sit with awakening and sleep with awakening. (One doing all this and) talking and eating with awakening, does not incur bondage of vicious Karma.

158. Through knowledge, accomplishment of meditation takes place; through meditation, the shedding of all the karmas occurs; the outcome of the shedding of karmas is emanicipation (complete mental equanimity and peace). One should, therefore, pursue knowledge.

159. The fire of austerity which is associated with the air of knowledge and which has been lighted by chastity,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

burns the seeds which cause mundane existence, as the forest-conflagration (burns) the heep of grass.

160. For him whose mind merges (itself) in meditation, as salt dissolves in contact with water, the fire of spiritual experience, the inflamer of the auspicious and inauspicious karmas emerges.

161. The person by whom meditation has been practised is not afflicted by the mental suffering of jealousy, dejection, grief etc. born of passions.

162. Just as the fire along with the air swiftly burns up the fuel which has been accumulated for a long time, so also the fire of meditation instantly consumes the fuel of unlimited karmas.

163. For the beings being swept away by the current of old age and death, spirituality is the support, the place of protection, an excellent refuge and an abode of shelter.

164. The courageous person will inevitably die and the coward one will also inevitably die. So at the time of death which is inevitable, to die with tranquility is undoubtedly better.

165. Just as the army perishes when the commander has been killed, so also on the destruction of the deluding karma (attachment), all the other karmas (impurities) vanish.

166. Salutation to the Anekāntavāda which is the singular teacher of mankind, without which even the transaction of the world does not at all go on.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

167. Since the understanding of non-absolutism does not occur without Naya (point of view), so by him who is desirous of eliminating absolutism (onesidedness) Naya should be comprehended.

168. No doubt, the thing has been endowed with manifold characteristics. From the desire to express one characteristic, only one characteristic is expressed, since the desire to express the rest of characterictics does not present itself at that time.

169. Extolling one's own utterances and disparaging those of others, they who behave like a pedantic person on that occasion remain dependent on the world in manifold ways.

170. Diverse are the Jivas; varied is (their) Karma; and divergent is (their) capablility; one should, therefore, shun verbal disputation with the votary of one's own faith and also with that of the other. □

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संकेत-सूची

(अ) —अव्यय (इसका अर्थ= लगाकर लिखा गया है)
अक —अकर्मक क्रिया
अनि —अनियमित
आज्ञा —आज्ञा
कर्म —कर्मवाच्य
(क्रिविअ) —क्रिया विशेषण अव्यय (इसका अर्थ =लगाकर लिखा गया है
तुवि —तुलनात्मक विशेषण
पु —पुल्लिग
प्रे —प्रेरणार्थक क्रिया
भकृ —भविष्य कृदन्त
भवि —भविष्यत्काल
भाव —भाववाच्य
भू —भूतकाल
भूकृ —भूतकालिक कृदन्त
व —वर्तमानकाल
वकृ —वर्तमान कृदन्त
वि —विशेषण
विधि —विधि
विधिकृ —विधि कृदन्त
स —सर्वनाम
संकृ —सम्बन्ध कृदन्त
सक —सकर्मक क्रिया
सवि —सर्वनाम विशेषण
स्त्री —स्त्रीलिंग
हेकृ —हेत्वर्थ कृदन्त
( ) —इस प्रकार के कोष्ठक में मूल रक्खा गया है।
[( )+( )+( )....] इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर + चिह्न किन्हीं शब्दों में संधि का द्योतक है। यहां अन्दर के कोष्ठकों में गाथा के शब्द ही रख दिये गये हैं।
[( )—( )—( )....] इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर '—' चिह्न समास का द्योतक है।
{[( )—( )—( )] वि } जहां समस्त पद विशेषण का कार्य करता है, वहां इस प्रकार के कोष्ठक का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जहाँ कोष्ठक के बाहर केवल संख्या (जैसे 1/1, 2/1....आदि) ही लिखी है, वहां कोष्ठक के अन्दर का शब्द 'संज्ञा' है।

* जहाँ कर्मवाच्य, कृदन्त आदि प्राकृत के नियमानुसार नहीं बने हैं, वहाँ कोष्ठक के बाहर 'अनि' भी लिखा गया है।

1/1—प्रथमा/एकवचन
1/2—प्रथमा/बहुवचन
2/1—द्वितीया/एकवचन
2/2—द्वितीया/बहुवचन
3/1—तृतीया/एकवचन
3/2—तृतीया/बहुवचन
4/1—चतुर्थी/एकवचन
4/2—चतुर्थी/बहुवचन
5/1—पंचमी/एकवचन
5/2—पंचमी/बहुवचन
6/1—षष्ठी/एकवचन
6/2—षष्ठी/बहुवचन
7/1—सप्तमी/एकवचन
7/2—सप्तमी/बहुवचन
8/1—संबोधन/एकवचन
8/2—संबोधन/बहुवचन

1/1 अक या सक—उत्तम पुरुष/एकवचन
1/2 अक या सक—उत्तम पुरुष/बहुवचन
2/1 अक या सक—मध्यम पुरुष/बहुवचन
2/2 अक या सक—मध्यम पुरुष/बहुवचन
3/1 अक या सक—अन्य पुरुष/एकवचन
3/2 अक या सक—अन्य पुरुष/बहुवचन

———

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरणिक विश्लेषण

1 **णमो**[1] (अ) = नमस्कार । **अरहंताणं**[1] (अरहंत) 4/2 । **सिद्धाणं**[1] (सिद्ध) 4/2 । **आयरियाणं**[1] (आयरिय) 4/2 । **उवज्झायाणं**[1] (उवज्झाय) 4/2 । **लोए** (लोअ) 7/1 । **सव्वसाहूणं**[1] [(सव्व) वि–(साहू) 4/2] ।

1. 'णमो' के योग में चतुर्थी होती है ।

2 **एसो** (एत) 1/1 सवि । **पंचणमोक्कारो** [(पंच) वि–(णमोक्कार) 1/1] । **सव्वपावप्पणासणो** [(सव्व) वि–(पाव)–(प्पणासण) 1/1 वि] । **मंगलाणं**[1] (मंगल) 6/2 । **च** (अ) = और । **सव्वेसिं** (सव्व) 6/2 वि । **पढमं** (पढम) 1/1 वि । **हवइ** (हव) व 3/1 । **अक मंगलं** (मंगल) 1/1 ।

1. जिस समुदाय में से एक छांटा जाता है उस समुदाय में षष्ठी अथवा सप्तमी होती है ।

3–5 **अरहंता** (अरहंत) 1/2 । **मंगलं** (मंगल) 1/1 । **सिद्धा** (सिद्ध) 1/2 । **साहू** (साहु) 1/2 । **केवलिपण्णत्तो** [(केवलि)–(पण्णत्त) भूक 1/1 । अनि] । **धम्मो** (धम्म) 1/1 ।

लोगुत्तमा [(लोग) + (उत्तमा)] [(लोग)–(उत्तम) 1/2 वि] । **लोगुत्तमो** [(लोग) + (उत्तमो)] [(लोग)–(उत्तम) 1/1 वि] ।

अरहंते[1] (अरहंत) 2/2 । **सरणं**[1] (सरण) 2/1 । **पव्वज्जामि**[2] (पव्वज्ज) व 1/1 सक । **सिद्धे** (सिद्ध) 2/2 । **साहू** (साहु) 2/2 । **केवलिपण्णत्तं** [(केवलि)–(पण्णत्त) भूक 2/1 अनि] । **धम्मं** (धम्म) 2/1 ।

1. 'जाना' अर्थवाली क्रियाओं के साथ द्वितीया होती है ।

6 **झायहि** (झाय[1]) विधि 2/1 तक । **पंच** (पंच) 2/2 वि । **वि** (अ) = ही । **गुरवे** (गुरव) 2/2 । **मंगलचउसरणलोयपरियरिए** [(मंगल) वि–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(चउसरण) वि–(लोय)–(परियर[1]) भूकृ 2/2] । णर-सुर-खेयर-महिए [(णर) – (सुर) – (खेयर) – (मह) भूकृ 2/2] । आराहणणायगे [(आराहण)–(णायग[2]) 2/2] । वीरे (वीर) 2/2 वि

1. भ्रा→भ्राय (अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य स्वरान्त धातुओं में विकल्प से अ (य) जोड़ा जाता है ।

2 यहाँ 'णायग' विशेषण की तरह प्रयुक्त है, कोशों में इसे संज्ञा बताया गया है ।

भूकृ

*परिकृ→परिकर→परियर→परियरिअ→परियरिए (भूकृ 2/2) परिकृ (परिकर=परियर)=विभूषित करना ।

7 घणघाइकम्ममहणा [(घण) वि – (घाइकम्म) – (महण) 1/2 वि] । तिहुवणवरभव्वकमलमत्तंडा [(तिहुवण) – (वर[1])–(भव्व)–(कमल)–(मत्तंड) 1/2 । अरिहा (अरिह) 1/2 । अणंतणाणी (अणंतणाणि) 1/2 वि । अणुवमसोक्खा–[[(अणुवम) वि–(सोक्ख) 1/2 वि] । जयंतु (जय) विधि 3/2 अक । जए (जअ) 7/1 ।

1 वरम् (अ)→वर=यह उस वाक्य-खंड के साथ प्रयुक्त होता है जिसमें अपेक्षित वस्तु विद्यमान है (संस्कृत—हिन्दी कोश)

8 अट्ठविहकम्मवियला [[(अट्ठविह) वि–(कम्म)–वियल) 1/2] वि]। णिट्ठियकज्जा [(णिट्ठिय) भूकृ अनि–(कज्ज) 1/2] । पणट्ठसंसारा [[(पणट्ठ) भूकृअनि – (संसार) 1/2]] । दिट्ठसयलत्थसारा[(दिट्ठ) +(सयल)+(अत्थ)+(सारा)] [(दिट्ठ) भूकृ अनि – (सयल) वि –(अत्थ)–(सार) 1/2] । सिद्धा (सिद्ध)1/2 । सिद्धिं (सिद्धि) 2/1 । मम (अम्ह) 4/1 स । दिसंतु (दिस) विधि 3/2 सक ।

9 पंचमहव्वयतुंगा [(पंच) वि–(महव्वय)–(तुंग) 1/2 वि] । तक्कालिय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सपरसमय-सुदधारा [(त) सवि–(क्कालिय) वि–(स) वि–(पर) वि–(समय)–(सुद)–(धार) 1/2 वि] । **णाणागुणगणभरिया** [(णाणा[1]) वि–(गुण)–(गण)–(भर) भू.कृ. 1/2] । **आइरिया** (आइरिय) 1/2 । **मम** (अम्ह) 4/1 स । **पसीदंतु** (पसीद) विधि 3/2 अक ।

1. समास के आरम्भ में विशेषण के रूप में प्रयोग होता है। (संस्कृत हिन्दी कोश)

10 **अण्णाणघोरतिमिरे** [(अण्णाण) वि–(घोर) वि–(तिमिर) 7/1] । **दुरंत तीरम्हि** [(दुरंत) वि–(तीर) 7/1] । **हिंडमाणाणं** (हिंड) वकृ 4/2 । **भवियाणुज्जोययरा** [(भवियाण)+(उज्जोययरा)] भवियाण (भविय) 4/2 वि उज्जोययरा (उज्जोययर) 1/2 वि । **उवज्झाया** (उवज्झाय) 1/2 । **वरमदिं** [(वर) वि–(मदि) 2/1] । **देंतु** (दा) विधि 3/2 सक ।

11 **थिरधरियसीलमाला** [(थिर[1])–(धरिय) भू.कृ.–(सील)–माला) 1/2] । **ववगयराया** [(ववगय) वि–(राय) 1/2)] । **जसोहपडिहत्था** [(जस)+(ओह)+(पडिहत्था)] [(जस)–(ओह)–(पडिहत्थ) 1/2 वि । **बहुविणयभूसियंगा** [(बहु)+(विणय)+(भूसिय)+(अंगा)] [(बहु) वि–(विणय)–(भूसिय) भू.कृ.–(अंग) 1/2] । **सुहाइं** (सुह) 2/2 । **साहू** (साहू) 1/2 । **पयच्छंतु** (पयच्छ) विधि 3/2 तक ।

1. थिर (क्रिविअ) = दृढ़तापूर्वक. थिरं→थिर. यहाँ अनुस्वार का लोप हुआ है ।

12 **अरिहंता** (अरिहंत) 1/2 । **असरीरा** (असरीर) 1/2 । **आयरिया** (आयरिय) 1/2 । **उवज्झाय**[1] (उवज्झाय) मूलशब्द 1/2 । **मुणिणो** (मुणि) 1/2 । **पंचक्खरनिप्पण्णो** [(पंच)+(अक्खर)+(निप्पण्णो)] [(पंच) वि–(अक्खर)–निप्पण्ण[2]) भूकृ 1/1 अनि] । **ओंकारो** (ओंकार) 1/1 । **पंच** (पंच) 1/2 वि **परमिट्ठी** (परमिट्ठी) 1/2 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

13 **अरहंतभासियत्थं** [(अरहंत+(भासिय)+(अत्थं)] [(अरहंत)–(भासिय) भू.कृ.–(अत्थ) 1/1] । **गणहरदेवेहिं** [(गणहर)–(देव) 3/2] । **गंथियं** (गंथ) भू.कृ. 1/1 । **सम्मं** (अ)=भली प्रकार से । **पणमामि** (पणम) व 1/1 सक । **भत्तिजुत्तो** [(भत्ति)–(जुत्त) 1/1 वि] । **सुदणाणमहोदहिं** [(सुद)–(णाण)–(महोदहि) 2/1] । **सिरसा**[1] (सिर) 3/1 ।

1. अर्धमागधी में कुछ शब्दों में तृतीया के एकवचन में 'सा' प्रत्यय जोड़ा जाता है । इसे अनियमित भी कहा जा सकता है, (शिरस् →शिरसा→सिरसा 3/1)

14 **ससमयपरसमयविऊ** [(स) वि–(समय)–(पर) वि–(समय)–(विउ) 1/1 वि] । **गंभीरो** (गंभीर) 1/1 वि । **दित्तिमं** (दित्तिम) 1/1 वि । **सिवो** (सिव) 1/1 वि । **सोमो** (साम) 1/1 वि । **गुणसयकलिओ** [(गुण)–(सय) वि–(कल) भूकृ 1/1] । **जुत्तो** (जुत्त) 1/1 वि । **पवयणसारं** [(पवयण)–(सार) 2/1] । **परिकहेउं** (परिकह) हे.कृ. ।

15 **जं** (ज) 2/1 सवि । **इच्छसि** (इच्छ) व 2/1 सक । **अप्पणतो** (अप्पण) पंचमी अर्थक 'तो' प्रत्यय । **च** (अ)=और । **ण** (अ)=नहीं । **तं** (त) 2/1 सवि । **इच्छ** (इच्छ) विधि 2/1 सक । **परस्स** (पर) 4/1 वि । **वि** (अ)=भी । **या** (अ)=और । **एत्तियगं** (एत्तिय) स्वार्थिक 'ग' प्रत्यय 1/1 वि । **जिणसासणं** [(जिण–(सासण) 1/1] ।

16 **आसासो** (आसास) 1/1 । **वीसासो** (वीसास) 1/1 । **सीयघरसमो** [(सीय) वि–(घर)–(सम) 1/1 वि] । **य** (अ)=और **होइ** (हो) । व 3/1 अक । **मा** (अ)=मत । **भाहि** (भा) विधि 2/1 अक । **अम्मा-पितिसमाणो** [(अम्मा)–(पिति)–(समाण) 1/1 वि] । **संघो** (संघ) 1/1 । **सरणं** (सरण)1/1 । **तु** (अ)=तो । **सव्वेसिं** (सव्व) 4/2 वि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

17 **जस्स** (ज) 6/1 सवि। **गुरुम्मि**[1] (गुरु) 7/1। **न** (अ) = नहीं **भत्ती** (भत्ति) 1/1। **य** (अ) = तथा। **बहुमाणो** (बहुमाण) 1/1। **गउरवं** (गउरव) 1/1। **भयं** (भय) 1/1। **वि** (अ) = तथा। **लज्जा** (लज्जा) 1/1। **नेहो** (नेह) 1/1। **गुरुकुलवासेण** [(गुरु)-(कुल)-(वास) 3/1]। **किं**[2] (किं) 1/1 सवि। **तस्स** (त) 6/1 सवि।

1 आदरसूचक शब्दों के साथ सप्तमी होती है। यहाँ भत्ति आदि आदरसूचक शब्द हैं।

2 संज्ञा शब्दों के करण के साथ प्रयुक्त होकर बहुधा अर्थ होता है 'क्या लाभ है'।

18 **खणमित्तसुक्खा** [(खणमित्त)-(सुक्ख) 1/2 वि]। **बहुकालदुक्खा** [(बहु) वि-(काल)-(दुक्ख) 1/2 वि]। **पगामदुक्खा** [(पगाम) वि-(दुक्ख) 1/2 वि]। **अणिग्गामसुक्खा** [(अणिगाम) वि-(सुक्ख) 1/2 वि]। **संसारमोक्खस्स** [(संसार)-(मोक्ख) 6/1]। **विपक्खभूया** [(विपक्ख)-(भूय) 1/2 वि]। **खाणी** (खाणि) 1/1। **अणत्थाण** (अणत्थ) 6/2। **उ** (अ) = निश्चय ही। **कामभोगा** [(काम)-(भोग) 1/2।

19 **सुट्ठु** (अ) = खूब अच्छी प्रकार से। **वि** (अ) = भी। **मग्गिज्जंतो** (मग्ग) कर्म वकृ 1/1। **कत्थवि** (अ) = कहीं **केलीइ** (केलि) 7/1। **नत्थि** (अ) = नहीं। **जह** (अ) = जैसे **सारो** (सार) 1/1। **इंदिअविसएसु** [(इंदिअ)-विसअ) 7/2]। **तहा** (अ) = वैसे ही। **सुहं** (सुह) 1/1 **सुट्ठु** (अ) = खूब अच्छी तरह से। **वि** (अ) = यद्यपि। **गविट्ठं** (गविट्ठ) भूकृ 1/1 अनि।

20 **जह** (अ) = जैसे **कच्छुल्लो** (कच्छुल्ल) 1/1 वि। **कच्छुं** (कच्छु) 2/1। **कंडूयमाणो** (कंडूय) वकृ 1/1। **दुहं** (दुह) 2/1। **मुणइ** (मुण) व 3/1 सक। **सुक्खं** (सुक्ख) 2/1। **मोहाउरा** [(मोह) + (आउरा)] [(मोह)-(आउर) 1/2 वि]। **मणुस्सा** (मणुस्स) 1/2। **तह** (अ) = वैसे ही। **कामदुहं** [(काम)-(दुह) 2/1]। **सुहं** (सुह) 2/1। **विंति** (बू) व 3/2 सक।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

21 भोगामिसदोसविसन्ने [(भोग) + (आमिस) + (दोस) + विसन्ने)] [(भोग)-(आमिस)-(दोस)-(विसन्न) 1/1 वि] । हियनिस्सेयसबुद्धि-वोच्चत्थे [(हिय)-(निस्सेयस)-(बुद्धि)-(वोच्चत्थ) 1/1 वि] । बाले (बाल) 1/1 वि । य (अ) = और । मन्दिए (मन्दिअ) 1/1 वि । मूढे (मूढ) 1/1 वि । बज्झई[1] (बज्झइ) व कर्म 3/1 सक अनि । मच्छिया (मच्छिया) 1/1 । व (अ) = जैसे । खेलम्मि[2] (खेल) 7/1 ।

1. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।
2. कभी कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-135)

22 जाणिज्जइ (जाण) व कर्म 3/1 सक । चिन्तिज्जइ (चिन्त) व कर्म 3/1 सक । जम्मजरामरणसंभवं [(जम्म)-(जरा)-(मरण)-(संभव[3]) 1/1 वि] । दुक्खं (दुक्ख) 1/1 । न (अ) = नहीं । य (अ) = फिर भी । विसएसु[2] (विसअ) 7/2 । विरज्जई[3] (विरज्जइ) व भाव 3/1 अक अनि । अहो (अ) = आश्चर्य । सुबद्धो (सुबद्ध) भूक 1/1 अनि । कवडगंठी [(कवड)-(गंठि) 1/1] ।

1. विशेषण के अर्थ में यह समास के अन्त में प्रयुक्त होता है ।
2. कभी कभी पंचमी विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हो जाता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-156)
3. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

23 जो (ज) 1/1 सवि । खलु (अ) = सचमुच । संसारत्थो (संसारत्थ) 1/1 वि । जीवो (जीव) 1/1 । तत्तो (अ) = उस कारण से । दु (अ) = ही । होदि (हो) व 3/1 अक । परिणामो (परिणाम) 1/1 । परिणामादो (परिणाम) 5/1 । कम्मं (कम्म) 1/1 । कम्मादो (कम्म) 5/1 । होदि (हो) व 3/1 अक । गदिसु (गदि) 7/1 अनि । गदी (गदि) 1/1 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

24 **गदिमधिगस्स** [(गदि)+(अधिगदस्स)] गदि (गदि) 2/1। **अधिगदस्स**[1] (अधिगद) भूक 6/1 अनि। **देहो** (देह) 1/1। **देहादो** (देह) 5/1। **इंदियाणि** (इंदिय) 1/2। **जायंते** (जाय) व 3/2 अक। **तेहिं** (त) 3/2 स। **दु** (अ)=ही। **विसयग्गहणं** [(विषय)-(ग्गहण) 1/1]। **तत्तो** (अ)=उस कारण से। **रागो** (राग) 1/1। **वा** (अ)=और। **दोसो** (दोस) 1/1।

1 कभी कभी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पंचमी के स्थान पर पाया जाता है। (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-134)

25 **जायदि** (जाय) व 3/1 अक। **जीवस्सेवं** [(जीवस्स)+(एवं)] जीवस्स (जीव) 6/1। एवं (अ)=इस प्रकार। **भावो** (भाव) 1/1। **संसारचक्कवालम्मि** [(संसार)-(चक्कवाल) 7/1]। **इदि** (अ)=इस प्रकार। **जिणवरेहिं** (जिणवर) 3/2। **भाणिदो** (भण) भूक 1/1। **अणादिणिधणो** (अण+आदि+णिधणो)=(अणादिणिधण) 1/1 वि। **सणिधणो** (स-णिधण) 1/1 वि। **वा** (अ)=या।

26 **जम्मं** (जम्म) 1/1। **दुक्खं** (दुक्ख) 1/1। **जरा** (जरा) 1/1। **रोगा** (रोग) 1/2। **य** (अ)=और। **मरणाणि** (मरण) 1/2। **अहो** (अ)=खेद। **दुक्खो** (दुक्ख) 1/1। **हु** (अ)=ही। **संसारो** (संसार) 1/1। **जत्थ** (अ)=जहाँ पर। **कीसन्ति** (कीस) व 3/2 अक। **जंतवो** (जंतु) 1/2।

27 **जं**[1] (ज) 2/1 सवि। **समयं**[1] (समय) 2/1। **जीवो** (जीव) 1/1। **आविसइ** (आविस) व 3/1 अक। **जेण** (ज) 3/1 सवि। **भावेण** (भाव) 3/1। **सो** (त) 1/1 स। **तंमि** (त) 7/1 सवि। **समए** (समअ) 7/1। **सुहासुहं** [(सुह)+(असुहं)] [(सुह) वि—(असुह) 2/1 वि]। **बंधए** (बंध) व 3/1 सक। **कम्मं** (कम्म) 2/1।

1 सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-137)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

28 **कम्मं** (कम्म) 2/1 । **चिणंति** (चिण) व 3/1 सक । **सवसा** (सवस) 1/2 वि । **तस्सुदयम्मि** [(तस्स)+(उदयम्मि)] । **तस्स** (त) 6/1 सवि । **उदयम्मि** (उदय) 7/1 । **उ** (अ)=किन्तु । **परव्वसा** (परव्वस) 1/2 वि । **होंति** (हो) व 3/2 अक । **रुक्खं** (रुक्ख) 2/1 । **दुरुहइ** (दुरुह) व 3/1 सक । **सवसो** (सवस) 1/1 वि । **विगलइ** (विगल) व 3/1 अक । **स** (त) 1/1 स । **परव्वसो** (परव्वस) 1/1 वि । **तत्तो** (त) 5/1 सवि ।

29 **कम्मवसा** [(कम्म)-(वस) 1/2 वि] । **खलु** (अ)=पाद पूर्ति के लिए प्रयुक्त । **जीवा** (जीव) 1/2 । **जीववसाइं** [(जीव)-(वस) 1/2 वि] । **कहिंचि** (अ)=कहीं । **कम्माइं** (कम्म) 1/1 । **कत्थइ** (अ)=कहीं । **धणिओ** (धणिअ) 1/1 वि । **बलवं**[1] (बलवन्त→बलवन्तो→बलवं) 1/1 । **धारणिओ** (धारणिअ) 1/1 वि । **कत्थई**[2] (अ)=कहीं

1 'मन्त' प्रत्यय जोड़ते समय 'म' के स्थान पर विकल्प से 'व' आदेश होता है । विकल्प से 'त' का लोप और 'न्' का अनुस्वार होने से 'बलवं' रूप बना (अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ 427)

2 छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

30 **मिच्छत्तं** (मिच्छत्त) 2/1 । **वेदंतो** (वेद) वकृ 1/1 । **जीवो** (जीव) 1/1 । **विवरीयदंसणो** (विवरीयदंसण) 1/1 वि । **होइ** (हो) व 3/1 अक । **ण** (अ)=नहीं । **य** (अ)=फिर । **धम्मं** (धम्म) 2/1 । **रोचेदि** (रोच) व 3/1 सक । **हु** (अ)=भी । **महुरं** (महुर) 2/1 वि । **पि** (अ) =भी । **रसं** (रस)2/1 । **जहा**(अ)=जैसे । **जरिदो** (जरिद) 1/1 वि ।

31 **मिच्छत्तपरिणदप्पा** [(मिच्छत्त)+(परिणद)+(अप्पा)] [(मिच्छत्त—(परिणद) भूकृ अनि—(अप्प) 1/1] । **तिव्वकसाएण** [(तिव्व) वि (कसाअ) 3/1] । **सुट्ठु** (अ)=अत्यन्त । **आविट्ठो** (आविट्ठ) 1/1 भूकृ अनि । **जीवं** (जीव) 2/1 । **देहं** (देह) 2/1 । **एक्कं** (एक्क) 2/1

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सवि । **मण्णंतो** (मण्ण) वकृ 1/1 । **होदि** (हो) व 3/1 अक । **बहिरप्पा** (बहिरप्प) 1/1 ।

32 **रागो** (राग) 1/1 । **य** (अ)=और । **दोसो** (दोस) 1/1 । **वि य** (अ)=और । **कम्मबीयं** [(कम्म)-(बीय) 1/1] । **कम्मं** (कम्म) 1/1 । **च** (अ)=भी । **मोहप्पभवं** [(मोह)-(प्पभव)[1] 1/1 वि] । **वयंति** (वय) व 3/2 सक । **कम्मं** (कम्म) 1/1 । **च** (अ)=निश्चय ही । **जाइमरणस्स** [(जाई)[2]-(मरण) 6/1] । **मूलं** (मूल) 1/1 । **दुक्खं** (दुक्ख) 1/1 । **च** (अ)=निस्संदेह । **जाईमरणं** [(जाई)-(मरण) 1/1] ।

1. समास के अन्त में 'उत्पन्न' अर्थ में प्रयुक्त होता है ।
2. समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर परस्पर में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व प्रायः हो जाते हैं (हेम प्राकृत व्याकरण 1-4)

33 **न वि** (अ)=नहीं । **तं** (त) 1/1 सवि । **कुणइ** (कुण) व 3/1 सक । **अमित्तो** (अमित्त) 1/1 वि । **सुट्ठु वि** (अ)=अत्यन्त ही । **य** (अ)=तथा । **विराहिओ** (विराहिअ) भूकृ 1/1 अनि । **समत्थो**(समत्थ) 1/1 वि । **वि** (अ)=भी । **जं**(ज) 1/1 सवि । **दो** (दो) 1/2 वि । **वि** (अ) = ही । **अनिग्गहिया** (अ-निग्गहिय) भूकृ 1/2 अनि । **करंति** (कर) व 3/2 सक । **रागो** (राग) 1/1 । **य**[1] (अ)=और **दोसो** (दोस) 1/1 ।

1. 'य' का प्रयोग 'और' अर्थ में दो बार कर दिया जाता है ।

34 **न** (अ)=नहीं । **य** (अ)=बिल्कुल । **संसारम्मि** (संसार) 7/1 । **सुहं** (सुह) 1/1 । **जाइजरामरणदुक्खगहियस्स** [(जाइ)-(जरा)-(मरण)-(दुक्ख)-(गह) भूकृ 4/1] । **जीवस्स** (जीव) 4/1 । **अत्थि** (अस) व 3/1 अक । **जम्हा** (अ)=चूंकि । **तम्हा** (अ)=अतः । **मुक्खो** (मुक्ख) 1/1 । **उवादेओ** (उवादेअ) 1/1 वि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

35 तं (तुम्ह) 1/1 स। जइ (अ)=यदि। इच्छसि (इच्छ) व 2/1 सक। गंतुं (गंतुं) हेक्रु अनि। तीरं (तीर) 2/1। भवसायरस्स [(भव)-(सायर)6/1]। घोरस्स (घोर)6/1 वि। तो (अ)=तो। नवसंजमभंडं [(तव)-(संजम)-(भंड) 2/1]। सुविहिय (सुविहिय) 8/1 वि। गिण्हाहि (गिण्ह) विधि 2/1 सक। तूरंतो (तूर) वकृ 1/1।

36 कामाणुगिद्धिप्पभवं [(काम)+(अणुगिद्धि)+(प्पभव)] [(काम)-(अणुगिद्धि) (प्पभव[1]) 1/1 वि]। खु (अ)=ही। दुक्खं (दुक्खं)1/1। सव्वस्स (सव्व) 6/1 वि। लोगस्स (लोग) 6/1। सदेवगस्स (सदेवग) 6/1 वि 'ग' स्वार्थिक। जं (ज) 1/1 सवि। काइयं (काइय) 1/1 वि। माणसियं (माणसिय) 1/1 वि। च (अ)=और। किंचि (अ)=कुछ। तस्संतगं [(तस्स)+(अंतगं)] तस्स (त) 6/1 स। अंतगं (अंतग) 2/1 'ग' स्वार्थिक। गच्छइ (गच्छ) व 3/1 सक। वीयरागो (वीयराग)1/1।

1. समास के अन्त में 'उत्पन्न' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

37 जेण (अ)=जिस कारण से। विरागो (विराग) 1/1 वि। जायइ (जाय) व 3/1 अक। तं (त) 1/1 सवि। सव्वायरेण [(सव्व)+आयरेण)] [(सव्व) वि-(आयर) 3/1]। करणिज्जं (कर) विधिकृ 1/1। मुच्चइ (मुच्चइ) व कर्म 3/1 सक अनि। हु (अ)=किन्तु। ससंवेगी[1] [(स)-(संवेगी)]=[(स)-(संवेगी)] स (अ)=श्रेष्ठ संवेगी (संवेगी) 1/1। अणंतवो (अणंतग[2]→अणंतव) 1/1 वि। होइ (हो) व 3/1 अक। असंवेगी (अ-संवेगी) 1/1 वि।

1. संवेग=वैराग्य संवेगी, वैराग्य वाला।
2. अणंतग=(अण+अंतग)=(अण+अंतव), ग→व (अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ, 111)।

38 अन्नं (अन्न) 1/1 वि। इमं (इम) 1/1 सवि। सरीरं (सरीर) 1/1। अन्नो (अन्न) 1/1 वि। जीवु (जीव) 1/1 अपभ्रंश। त्ति (अ)=भी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निच्छियमईओ (निच्छियमइ) 5/1 । **दुक्खपरिकेसकरं** [(दुक्ख) वि–(परी–केसकर) 2/1 वि] । **छिंद** (छिंद) विधि 2/1 सक । **ममत्तं** (ममत्त) 2/1 । **सरीराओ** (सरीर) 5/1 ।

39 **भावे**[1] (भाव) 7/1 । **विरत्तो** (विरत्त) 1/1 वि । **मणुओ** (मणुअ) 1/1 । **विसोगो** (विसोग) 1/1 वि । **एएण** (एअ) 3/1 सवि । **दुक्खोह-परंपरेण** [(दुक्ख) + (ओह) + (परंपरेण)] [(दुक्ख) - (ओह) – (परंपर) 3/1] । **न** (अ) = नहीं । **लिप्पई**[2] (लिप्पइ) व कर्म 3/1 अनि । **भवमज्झे** [(भव)–(मज्झ) 7/1] । **वि** (अ) = भी । **संतो** (संत) 1/1 वि । **जलेण** (जल) 3/1 । **वा** (अ) = जैसे कि । **पोक्खरिणीपलासं** [(पोक्खरिणी) – (पलास) 1/1] ।

1. पंचमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है । (हेम प्राकृत व्याकरण 3-136)
2. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

40 **धम्मो** (धम्म) 1/1 । **मंगलमुक्किट्ठं** [(मंगलं) + (उक्किट्ठं)] मंगल (मंगल) 1/1 उक्किट्ठं (उक्किट्ठ) 1/1 वि । **अहिंसा** (अहिंसा) 1/1 । **संजमो** (संजम) 1/1 **तवो** (तव) 1/1 । **देवा** (देव) 1/2 । **वि** (अ) = भी । **तं** (त) 2/1 स । **नमंसंति** (नमंस) व 3/2 सक । **जस्स** (ज) 6/1 स । **धम्मे** (धम्म) 7/1 । **सया** (अ) = सदा । **मणो** (मण) 1/1 ।

41 **धम्मो** (धम्म) 1/1 । **वत्थुसहावो** [(वत्थु)–(सहाव) 1/1] । **खमादिभावो** [(खमा) + (आदि) + (भावो)] [(खमा) – (आदि) – (भाव) 1/1] । **य** (अ) = भी । **दसविहो** (दसविह) 1/1 वि । **रयणत्तयं** (रयण) – (त्तय) 1/1] । **च** (अ) = भी । **जीवाणं** (जीव) 6/1 । **रक्खणं** (रक्खण) 1/1 ।

42 **कोहेण** (कोह) 3/1 । **जो** (ज) 1/1 सवि । **ण** (अ) = नहीं । **तप्पदि** (तप्पदि) व कर्म 3/1 सक । **सुर-णर-तिरिएहि** [(सुर) – (णर) –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(तिरिअ) 3/2] । कीरमाणे (कीरमाण) कर्म वकृ 7/1 । वि (अ) = भी । उवसग्गे (उवसग्ग) 7/1 । वि (अ) = पादपूरक । रउद्दे (रउद्द) 7/1 वि । तस्स (त) 6/1 स । खमा (खमा) 1/1 । णिम्मला (णिम्मल – णिम्मला) 1/1 वि । होदि (हो) व 3/1 अक ।

43 खम्मामि (खम्म) व 1/1 सक । सव्वजीवाणं[1] [(सव्व)–(जीव)6/2] । सव्वे (सव्व) 1/2 सवि । जीवा (जीव) 1/2 । खमंतु (खम) विधि 3/2 सक । मे (अम्ह) 2/1 स । मित्ती (मित्ति) 1/1 । मे (अम्ह) 6/1 स । सव्वभूदेसु[2] [(सव्व) – (भूद) 7/2] । वेरं (वेर) 1/1 । मज्झं (अम्ह) 6/1 । ण (अ) = नहीं । केण (क) 3/1 स । वि (अ) = भी ।

1. कभी कभी द्वितीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग होता है । (हेम प्राकृत व्याकरण: 3-134)
2. आदरसूचक शब्दों के साथ सप्तमी विभक्ति होती है । यहाँ आदर-सूचक शब्द 'मित्ति' है ।

44 जो (ज) 1/1 स । चिंतेइ (चिंत) व 3/1 सक । ण (अ) = नहीं । वंकं (वंक) 2/1 वि । कुणदि (कुण) व 3/1 सक । जंपदे (जंप) व 3/1 सक । य (अ) = और । गोवदि (गोव) व 3/1 सक । णियदोसं [(णिय) वि – (दोस) 2/1] । अज्जव-धम्मो [(अज्जव) – (धम्म) 1/1] । हवे (हव) व 3/1 अक । तस्स (त) 6/1 स ।

45 परसंतावयकारण-वयणं [(पर)–(संतावय)–कारण)–(वयण) 2/1] । मोत्तूण (मोत्तूण) संकृ अनि । सपरहिदवयणं [(स) वि–(पर) वि–(हिद) वि–(वयण) 2/1] । जो (ज) 1/1 सवि । वददि (वद) व 3/1 सक । भिक्खु[1] (भिक्खु) मूल शब्द 1/1 । तुरियो (तुरिय) 1/1 सवि । तस्स (त) 6/1 स । हु (अ) = ही । धम्मो (धम्म) 1/1 । हवे (हव) व 3/1 अक । सच्चं (सच्च) 1/1 ।

1. किसी भी कारक के लिए मूल संज्ञा शब्द काम में लाया जा सकता है । (पिशल, प्रा. भा. व्या. पृष्ठ 517)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

46 **विस्ससणिज्जो** (विस्सस) विधि कृ 1/1 । **माया** (माया) 1/1 । **व** (अ) = की तरह । **होइ** (हो) व 3/1 अक । **पुज्जो** (पुज्ज) 1/1 वि । **गुरु** (गुरु) मूल शब्द 1/1 । **व्व** (अ) = की तरह । **लोअस्स** (लो अ) 6/1 । **सयणु** [(स)-(यण) 1/1 अपभ्रंश] । **व्व** (अ) = की तरह । **सच्चवाई** (सच्चवाइ) 1/1 वि । **पुरिसो** (पुरिस) 1/1 । **सव्वस्स** (सव्व) 6/1 वि । **होइ** (हो) व 3/1 अक । **पिओ** (पि अ) 1/1 वि ।

47 **सच्चम्मि** (सच्च) 7/1 । **वसदि** (वस) व 3/1 अक । **तवो** (तव) 1/1 । **संजमो** (संजम) 1/1 । **तह** (अ) = तथा । **वसे** (वस) व 3/1 अक । **सेसा** (सेस) 1/2 वि । **वि** (अ) = भी । **गुणा** (गुण) 1/2 । **सच्चं** (सच्च) 1/1 । **णिबंधणं** (णिबंधण) 1/1 । **हि** (अ) = ही । **य** (अ) = पुनः । **गुणाणमुदधीव** [(गुणाणं) + (उदधी) + (इव)] गुणाणं (गुण) 6/2 । **उदधी** [(उद) - (धि) 1/1] । **इव** (अ) = जैसे । **मच्छाणं** (मच्छ) 4/2 ।

48 **सुवण्णरुप्पस्स** [(सुवण्ण) - (रुप्प) 6/1] । **उ** (अ) = किन्तु । **पव्वया** (पव्वय) 1/2 । **भवे**[1] (भव) विधि 3/2 अक । **सिया** (अ) = कदाचित् । **हु** (अ) = भी । **केलाससमा** [(केलास)-(सम) 1/2 वि] । **असंखया** (असंखय) 1/2 वि । **नरस्स** (नर) 4/1 । **लुद्धस्स** (लुद्ध) भूक 4/1 अनि । **न** (अ) = नहीं । **तेहि** (त) 3/2 सवि । **किंचि** (अ) = कुछ । **इच्छा** (इच्छा) 1/1 । **हु** (अ) = क्योंकि । **आगाससमा** [(आगास) - (समा) 1/1 वि] । **अणन्तिया** [(अण) + (अन्तिया)] अणन्तिया (अणन्तिया) 1/1 वि ।

1. पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 679

49 **समसंतोसजलेणं** [(सम)वि-(संतोस)-(जल) 3/1] । **जो** (ज) 1/1 सवि । **धोवदि** (धोव) व 3/1 सक । **तिव्व-लोहमल-पुंजं** [(तिव्व) वि-(लोह)-(मल)-(पुंज) 2/1] । **भोयण-गिद्धि-विहीणो** [(भोयण)-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(गिद्धि)–(विहीण) भूकृ 1/1 । **तस्स** (त) 6/1 स । **सउच्चं** (सउच्च) 1/1 । **हवे** (हव) व 3/1 अक । **विमलं** (विमल) 1/1 वि ।

50 **विसयकसाय-विणिग्गहभावं** [(विसय)–(कसाय)–(विणिग्गह)–(भाव) 2/1] । **काऊण** (का) संकृ । **झाणसज्झाए**[1] [(झाण)–(सज्झाअ) 7/1] । **जो** (ज) 1/1 सवि । **भावइ** (भाव) व 3/1 सक । **अप्पाणं** (अप्पाणं) 2/1 । **तस्स** (त) 6/1 सवि । **तवं** (तव) 1/1 । **होदि** (हो) व 3/1 अक । **णियमेण** (क्रिविअ) = नियम से ।

1. तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-135)

51 **णिव्वेदतियं** [(णिव्वेद)–(तिय) 2/1] । **भावइ** (भाव) व 3/1 सक । **मोहं** (मोह) 2/1 । **चइऊण** (चअ) संकृ । **सव्वदव्वेसु** [(सव्व)–(दव्व) 7/2] । **जो** (ज) 1/1 सवि । **तस्स** (त) 6/1 स । **हवे** (हव) व 3/1 अक । **चागो** (चाग) 1/1 । **इदि** (अ) = इस प्रकार । **भणिद** (भण) भूकृ 1/1 । **जिणवरिंदेहिं** (जिणवरिंद) 3/2 ।

52 **जे** (ज) 1/1 स । **य** (अ) = और । **कंते** (कंत) 2/2 वि । **पिए** (पिअ) 2/2 वि । **भोए** (भोअ) 2/2 । **लद्धे** (लद्ध) भूकृ 2/2 अनि । **विपिट्ठिकुव्वइ** [(विपिट्ठि[1]) मूल शब्द 2/1 – कुव्वइ (कुव्व) व 3/1 सक] । **सांहीणे** [(स)+(अहीणे)] [(स)–(अहीण) 2/2 वि] । **चयइ** (चय) व 3/1 सक । **भोए** (भोअ) 2/2 । **से** (त) 1/1 सवि । **हु** (अ) = ही । **चाइ**[1] (चाइ) मूल शब्द 1/1 वि । **त्ति** (अ) = इस प्रकार । **वुच्चई**[2] (वुच्चइ) व कर्म 3/1 सक अनि ।

1. किसी भी कारक में मूल संज्ञा शब्द काम में लाया जा सकता है । (पिशल, प्रा. भा. व्या. पृष्ठ 517) यह नियम विशेषण पर भी लागू किया जा सकता है ।

2. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

53 **अहमिक्को** [(अहं)+(इक्को)] [(अहं)-(इक्क) 1/1 वि। **खलु** (अ) = निश्चय ही। **सुद्धो** (सुद्ध) भूकृ 1/1 अनि। **दंसणणाणमइओ** [(दंसण)-(णाणमइअ) 1/1 वि]। **सदाऽरूवी** [(सदा)+(अरूवी)] सदा (अ) = सदा अरूवी (अरूवि) 1/1 वि। **ण वि** (अ) = नहीं। **अत्थि** (अ) = है। **मज्झ** (अम्ह) 6/1 स। **किंचि** (अ) = थोड़ी सी। **वि** (अ) = इसके अलावा। **अण्णं** (अण्ण) 1/1 वि। **परमाणुमित्तं** [(परमाणु)-(मित्त) 1/1। **पि** (अ) = भी।

54 **सुहं** (क्रिविअ) = सुखपूर्वक। **वसामो** (वस) व 1/2 अक। **जीवामो** (जीव) व 1/2 अक। **जेसिं** (ज) 4/2 स। **णो** (अ) = नहीं। **नत्थि** (अ) = नहीं। **किंचण** (अ) = कुछ भी। **मिहिलाए** (मिहिला) 7/1।

स्त्री

डज्झमाणीए (डज्झमाण → डज्झमाणी) व कृ कर्म 7/1। **न** (अ) = नहीं। **मे** (अम्ह) 6/1 स। **डज्झइ** (डज्झइ) व कर्म 3/1 सक।

55 **जहा** (अ) = जैसे। **पोम्मं** (पोम्म) 1/1। **जले** (जल) 7/1। **जायं** (जाय) भूकृ 1/1 अनि। **नोवलिप्पइ** [(न)+(उवलिप्पइ)]। **न** (अ) = नहीं। **उवलिप्पइ** (उवलिप्प) व कर्म 3/1 अक अनि। **वारिणा** (वारि) 3/1। **एवं** (अ) = उसी प्रकार। **अलित्तं** (अलित्त) भूकृ 1/1 अनि। **कामेहिं** (काम) 3/2। **तं** (त) 2/1। **वयं** (अम्ह) 1/2 स। **बूम** (बू) व 1/2 सक। **माहणं** (माहण) 2/1।

56 **दुक्खं** (दुक्ख) 1/1। **हयं** (हय) भूकृ 1/1 अनि। **जस्स** (ज) 6/1। **न** (अ) = नहीं। **होइ** (हो) व 3/1 अक। **मोहो** (मोह) 1/1। **हओ** (हअ) भूकृ 1/1 अनि। **तण्हा** (तण्हा) 1/1। **हया** (हया) भूकृ 1/1 अनि। **लोहो** (लोह) 1/1। **किंचणाइं** (किंचण) 1/2 वि।

57 **एए** (एअ) 2/2 स। **य** (अ) = यदि। **संगे** (संग) 2/2। **समइक्कमित्ता**[1]

1. समतिक्रम → समइक्कं → समइक्कं — इत्ता → समइक्कमित्ता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(समइक्कं) संकृ । **सुदुत्तरा** (सु–दुत्तर) 1/2 वि । **चेव** (अ) = भी । **भवंति** (भव) व 3/2 अक । **सेसा** (सेस) 1/2 वि । **जहा** (अ) = उदाहरणार्थ । **महासागरमुत्तरित्ता** [(महासागरं)—(उत्तरित्ता)] महासागरं (महासागर) 2/1 उतरित्ता (उत्तर) संकृ । **नई** (नई) 2/2 । **भवे** (भव) व 3/1 अक । **अवि** (अ) = भी । **गंगासमाणा** [(गंगा)–(समाण → स्त्री समाणा) 2/2 वि] ।

58 **जा** (जा) 1/1 स । **वज्जई**[1] (वज्ज) व 3/1 अक । **रयणी** (रयणि) 1/1 । **न** (अ) = नहीं । **सा** (ता) 1/1 स । **पडिनियत्तई**[2] (पडिनियत्त) व 3/1 अक । **अहम्मं** (अहम्म) 2/1 । **कुणमाणस्स** (कुण) वकृ 6/1 । **अफला** (अफल) 1/2 वि । **जन्ति**[3] (जा) व 3/2 अक । **राइओ**[4] (राइ) 1/2 ।

1. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।
2. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।
3. दीर्घ स्वर के आगे यदि संयुक्त अक्षर हो तो उस दीर्घ स्वर का ह्रस्व स्वर हो जाता है; जान्ति → जन्ति (हेम प्राकृत व्याकरण : 1-84)
4. विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व हो जाते हैं (पिशल, प्रा. भा. व्या. पृष्ठ, 182)

59 **अप्पा** (अप्प) 1/1 । **जाणई** (जाण) व 3/1 सक । **अप्पा**[1] (अप्प) 5/1 । **जहट्ठिओ** (जहट्ठिअ) 1/1 वि । **अप्पसक्खिओ** [(अप्प)–(सक्खिअ) 1/1] । **धम्मो** (धम्म) 1/1 । **अप्पा** (अप्प) 1/1 । **करेइ** (कर) व 3/1 सक । **तं** (त) 2/1 स । **तह** (अ) = इस तरह । **जह** (अ)

1. किसी कार्य का कारण व्यक्त करने वाली (स्त्रीलिंग भिन्न) संज्ञा में तृतीया या पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

= जिससे । **अप्पसुहावओ** [(अप्प) + (सुह) + (आवअ)] [(अप्प)–(सुह)–(आवअ) 1/1 वि] । **होइ** (हो) व 3/1 अक ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

60 **अप्पा** (अप्प) 1/1। **नई** (नई) 1/1। **वेयरणी** (वेयरणी) 1/1। **मे** (अम्ह) 4/1 स। **कूड सामली** (कूड.सामलि) 1/1। **कामदुहा** (कामदुहा) 1/1 वि। **धेणू** (धेणु) 1/1। **नंदणं** (नंदण) 1/1। **वणं** (वण) 1/1।

61 **अप्पा** (अप्प) 1/1। **कत्ता** (कत्तु) 1/1 वि। **विकत्ता** (विकत्तु) 1/1 वि। **य** (अ)=भी। **दुहाण** (दुह)6/2। **य** (अ)=और। **सुहाण** (सुह) 6/2। **य** (अ)=तथा। **मित्तममित्तं** [(मित्तं)+(अमित्तं)] मित्तं (मित्त) 1/1। अमित्तं (अमित्त) 1/1। **च** (अ)=और। **दुप्पट्ठिय**[1] (दुप्पट्ठिय) मूल शब्द 1/1 वि **सुप्पट्ठिओ** (सुप्पट्ठिअ) 1/1 वि।

कर्त्ता कारक के स्थान में केवल मूल संज्ञा शब्द भी काम में लाया जा सकता है। (पिशल: प्रा. भा. व्या., पृ. 518)।

62 **एगप्पा** [(ऐग)+(अप्पा)] [(एग) वि–(अप्प) 1/2]। **अजिए** (अजिअ) भूकृ 1/1 अनि। **सत्तू** (सत्तु) 1/1। **कसाया** (कसाय) 1/2। **इन्दियाणि** (इन्दिय) 1/2। य (अ)=और। **ते** (त) 2/2 स। **जिणित्तु** (जिण) संकृ। **जहानायं** (अ)=उचित रीति से। **विहरामि** (विहर) व 1/1 अक। **अहं** (अम्ह) 1/1 स। **मुणी** (मुणि) 8/1।

63 **जो** (ज) 1/1 स। **सहस्सं** (सहस्स) 2/1 वि। **सहस्साणं**[1] (सहस्स) 6/2 वि। **संगामे** (संगाम) 7/1। **दुज्जए** (दुज्जअ) 7/1 वि। **जिणे** (जिण) विधि 3/1 सक। **एगं** (एग) 2/1 वि। **अप्पाणं** (अप्पाण) 2/1। **जिणेज्ज** (जिण) विधि 3/1 सक। **एस** (एत) 1/1 सवि। **से** (त) 6/1 स। **परमो** (परम) 1/1 वि। **जओ** (जअ) 1/1।

1. कभी कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-134)

64 **अप्पाणमेव** [(अप्पाणं) + (एव)] अप्पाणं[1] (अप्पाण) 2/1 एव

1. सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अ) = ही । **जुज्झाहि** (जुज्झ) विधि 2/1 अक । **किं** (किं) 1/1 सवि । **ते** (तुम्ह)4/1 स । **जुज्झेण** (जुज्झ)3/1 । **बज्झओ** (अ) = बरिरंग से । **अप्पाणं** (अप्पाण) 2/1 । **जइत्ता** (जअ) संकृ । **सुहमेहए** [सुहं) + (एहए)] । सुहं (सुह) 1/1 एहए (एह) व 3/1 अक ।

65 **अप्पा** (अप्प) 1/1 । **चेव** (अ) = ही । **दमेयव्वो** (दम) विधिकृ 1/1 । **हु** (अ) = ही । **खलु** (अ) = सचमुच । **दुद्दमो** (दुद्दम) 1/1 वि । **दंतो** (दंत) भूकृ 1/1 अनि । **सुही** (सुहि) 1/1 वि । **होइ** (हो) व 3/1 अक । **अस्सि** (इम) 7/1 । **लोए** (लोअ) 7/1 । **परत्थ** (अ) = परलोक में । **य** (अ) = और ।

66 **वरं** (अ) = अधिक अच्छा । **मे** (अम्ह) 3/1 स । **अप्पा** (अप्प) 1/1 । **दंतो** (दंत) भूकृ 1/1 अनि । **संजमेण** (संजम) 3/1 **तवेण** (तव) 3/1 । **य** (अ) = और । **माऽहं** [(मा) + (अहं)] मा (अ) = नहीं अहं (**अम्ह**) 1/1 स । **परेहिं** (पर) 3/2 । **दम्मंतो** (दम्मंतो) कर्म वकृ 1/1 अनि । **बंधणेहिं** (बंधण) 3/2 । **वहेहि** (वह) 3/2 । **य** (अ) = और ।

67 **एगओ** (अ) = एक ओर से । **विरइं** (विरइ) 2/1 । **कुज्जा** (कु) विधि 3/1 सक । **एगओ** (अ) = एक ओर । **य** (अ) = तथा । **पवत्तणं** (पवत्तण) 1/1 । **असंजमे**[1] (असंजम) 7/1 । **नियत्तिं** (नियत्ति) 2/1 । **च** (अ) = एक ओर । **संजमे** (संजम) 7/1 । **य** (अ) = दूसरी ओर ।

1. पंचमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-136)

68 **नाणेण** (नाण) 3/1 । **य** (अ) = और । **झाणेण** (झाण) 3/1 । **तवोबलेण** (तवोबले) 3/1 । **य** (अ) = इसका प्रयोग 'और' अर्थ में प्रत्येक शब्द के साथ कर दिया जाता है । **बला** (क्रिविअ) = बलपूर्वक । **निरुभंति** (निरुभंति) व कर्म 3/2 सक अनि । **इन्दिय विसय कसाया** [(इन्दिय)-(विसय)-(कसाय) 1/2] । **धरिया** (धर) भूकृ 1/2 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुरगा (तुरग) 1/2 । व (अ) = जैसे । रज्जूहि (रज्जु) 3/2 ।

69 (अ)] अग्गीथोवं [(अग्गी[1])–थोवं (अ)] । कसायथोवं [(कसाय)–थोवं (अ)] । च (अ) = और । न (अ) = नहीं । हु (अ) = ही । मे (तुम्ह) 3/1 स । वोससियव्वं[2] (वीसस) विधिकृ 1/1 । थोवं (अ) = थोड़ा सा । पि (अ) = भी । हु (अ) = क्योंकि । तं[2] (त) 1/1 स । बहु (अ) = बहुत । होइ[2] (हो) व 3/1 अक ।

1. छन्द की मात्रा की पूर्त्ति हेतु 'अग्गी' किया गया है ।
2. यदि एक वाक्य में पु., स्त्री., नपु. लिंग वाले शब्द हैं तो सर्वनाम और क्रिया नपुसंक लिंग के अनुसार होंगे ।

70 कोहो (कोह) 1/1 । पीइं (पीइ) 2/1 । पणासेइ (पणास) व 3/1 सक । माणो (माण) 1/1 । विणयनासणो [(विणय)—(नासण) 1/1 वि] । माया (माया) 1/1 । मित्ताणि (मित्त) 2/2 । नासेइ (नास) व 3/1 सक । लोहो (लोह) 1/1 । सव्वविणासणो [(सव्व) वि—(विणासण) 1/1 नि] ।

71 उवसमेण (उवसम) 3/1 । हणे (हण) विधि 3/1 सक । कोहं (कोह) 2/1 । माणं (माण) 2/1 । मद्दवया (मद्दव) स्वार्थिक 'य' 5/1 । जिणे (जिण) विधि 3/1 सक । मायं (माया) 2/1 । चऽज्जवभावेण [(च) + (अज्जव) + (भावेण)] च (अ) = और [(अज्जव) = (भाव) 3/1] । लोभं (लोभ) 2/1 संतोसओ* (संतोस) 5/1 ।

*संतोसाओ→संतोसअ—विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व हो जाते हैं । पिशल: प्रा. भा. व्या. पृष्ठ 182 ।

72 जहा (अ) = जिस प्रकार । कुम्मे (कुम्म) 1/1 । सअंगाई* [(स) वि—(अंग) 2/2] । सए (स) स्वार्थिक 'अ' प्रत्यय 7/1 वि । देहे (देह) 7/1 समाहरे (समाहर) व 3/1 सक । एवं (अ) = इसी प्रकार से । पावाइं (पाव) 2/2 । मेहावी (मेहावि) 1/1 वि । अज्झप्पेण (अज्झप्प) 3/1 ।

*छन्द की मात्रा की पूर्त्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

73 **से** (त) 1/1 स । **जाणमजाणं** [(जाणं) + (अजाणं)] जाणं (क्रिविअ)= ज्ञानपूर्वक, अजाणं (क्रिविअ) = अज्ञानपूर्वक । **वा** (अ)=अथवा । **कट्टु*** (अ) = करके । **आहम्मिअं** (आहम्मिअ) 2/1 वि । **पयं** (पय) 2/1 । **संवरे** (संवर) विधि 3/1 सक । **खिप्पमप्पाणं** [(खिप्पं) + (अप्पाणं)] खिप्पं (अ)=तुरन्त, अप्पाणं (अप्पाण) 2/1 **बीयं** (अ) = दूसरी बार । **तं** (त) 2/1 स न (अ) = नहीं । **समायरे** (समायर) विधि 3/1 सक ।

*यहां अनुस्वार का आगमन हुआ है ।

74 **जे** (ज) 1/1 । **ममाइय-मतिं** [(ममाइय) वि—(मति) 2/1] । **जहाति** (जहा) व 3/1 सक । **से** (त) 1/1 स । **ममाइयं** (ममाइय) 2/1 वि । **हु** (अ) = ही । **विट्ठपहे** [(दिट्ठ) भूक अनि—(पह) ट/1] । **मुणी** (मुणि) 1/1 । **जस्स** (ज) 4/1 स । **नत्थि** (अ) = नहीं । **ममाइयं** (ममाइय) 1/1 वि ।

75 **सव्वगंथविमुक्को** [(सव्व-(गंथ)—(विमुक्क) भूक 1/1 अनि) । **सीई-भूओ*** (सीईभूअ) भूक 1/1 अनि । **पसंतचित्तो** [(पसंत) भूक अनि—(चित्त) 1/1] । **अ** (अ) = और । **जं** (ज) = स । **पावइ** (पाव) व 3/1 सक । **मुत्तिसुहं** [(मुत्ति)—(सुह) 2/1] । **न** (अ)=नहीं । **चक्कवट्टी** (चक्कवट्टि) 1/1 **वि** (अ) = भी । **तं** (त) 2/1 स । **लहइ** (लह) व 3/1 सक ।

*शीतीभूत (Monier William, Sanskrit, Eng. Dict. (p. 1078 col. 2)—Tranquillised. शीतीभूत→सीईभूअ ।

76 **गंथच्चाओ** [(गंथ)—(च्चाअ) 1/1 । **इंदिय-णिवारणे** [(इंदिय)—(णिवारण) 7/1] । **अंकुसो** (अंकुस) 1/1 **व** (अ) = जैसे । **हत्थिस्स** (हत्थि) 4/1 । **णयरस्स** (णयर) 4/1 । **खाइया** (खाइया) 1/1 । **वि** (अ) = भी । **य** (अ) = और **इंदियगुत्ती** [(इंदिय)—(गुत्ति) 1/1] **असंगत्तं** (असगत्त) 1/1 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

77 **एयं** (एय) 1/1 सवि। **खु** (अ) = सचमुच। **नाणिणो** (नाणि) 6/1 वि। **सारं** (सार) 1/1। **जं** (अ) = कि। **न** (अ) = नहीं। **हिंसइ** (हिंस) व 3/1 सक। **कंचण** (क) 2/1 स 'चण' अनिश्चयात्मकता प्रकट करता है। **अहिंसा समयं** [(अहिंसा)–(समया) 2/1। **चेव** (अ) = निश्चय ही **एतावं** (एताव) 6/1 वि। **ते** (त) 1/2 स। **वियाणिया*** (वियाण) संकृ।

*पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 834 से 837।

78 **सव्वे** (सव्व) 1/2 सवि। **जीवा** (जीव) 1/2। **वि** (अ) = ही। **इच्छंति** (इच्छ) व 3/2 सक। **जीविउं**[1] (जीव) हेकृ। **न** (अ) = नहीं **मरिज्जिउं*** (मर) हेकृ। **तम्हा** (अ) = इसलिए। **पाणवहं** [(पाण)—(वह) 2/1] **घोरं** (घोर) 2/1 वि। **निग्गंथा** (निग्गंथ) 1/2। **वज्जयंति** (वज्जयंति) व 3/2 सक अनि। **णं** (त) 2/1 स।

1 इच्छार्थक धातुओं के साथ हेत्वर्थ कृदन्त का प्रयोग होता है।

*'मर' क्रिया में 'ज्ज' प्रत्यय लगाने पर अन्त्य 'अ' का 'इ' होने से 'मरिज्ज' बना और इसमें हेत्वर्थ कृदन्त के 'उं' प्रत्यय को जोड़ने से पूर्ववर्ती 'अ' को 'इ' होने के कारण 'मरिज्जिउं' बना है। इसका अर्थ 'मरिउं' की तरह होगा।

79 **जह** (अ) = जैसे। **ते** (तुम्ह) 4/1 स। **न** (अ) = नहीं। **पिग्रं** (पिग्र) 1/1 वि। **दुक्खं** (दुक्ख) 1/1। **जाणिअ** (जाण) संकृ। **एमेव** (अ) = इसी प्रकार। **सव्वजीवाणं** [(सव्व) सवि—(जीव) 4/2] **सव्वायर-मुवउत्तो** [(सव्व) + (आयरं + (उवउत्तो)] [(सव्व) सवि— (आयर) 2/1] उवउत्तो[1] (उवउत्त) पंचमी अर्थक 'ओ' प्रत्यय। **अत्तोवम्मेण** [(अत्त) + उवम्मेण [(अत्त)—(उवम्म) 3/1] । **कुणसु** (कुण) विधि 2/1 सक। **दयं** (दया) 2/1।

1. उवउत्त + ओ = उवउत्ताओ ⇒ उवउत्तो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

80 **जीववहो** [(जीव)—(वह) 1/1] । **अप्पवहो** [(अप्प)—(वह) 1/1] । **जीवदया** [(जीव)—(दया) 1/1] । **अप्पणो** (अप्पण) 4/1 । **दया** (दया) 1/1 **होइ** (हो) व 3/1 अक । **ता** (अ)=उस कारण से । **सव्वजीवहिंसा** [(सव्व) सवि—(जीव)—हिंसा) 1/1] । **परिचत्ता** (परिचत्ता) 1/1 भूकृ अनि । **अत्थकामेहिं** (अत्थकाम) 3/2 वि ।

81 **तुमं** (तुम्ह) 1/1 स । **सि** (अस) व 2/1 अक । **नाम** (अ)= निस्सन्देह । **स** (त) 1/1 सवि । **चेव** (अ)=ही । **जं** (ज) 2/1 । **हंतव्वं** (हंतव्व) विधिकृ 1/1 अनि भाववाच्य । **ति** (अ)=देख । **मन्नसि** (मन्न) व 2/1 सक । **अज्जावे पव्वं** (अज्जाव) विधिकृ 1/1 भाववाच्य ।

82 **रागादीणमणुप्पाओ** [(राग)+(आदीणं)+(अणुप्पाओ)] [(राग)–(आदि) 6/2] अणुप्पाओ (अणुप्पाअ) 1/1 वि । **अहिंसकत्तं** (अहिंसकत्त) 1/1 । **त्ति** (अ)=इस प्रकार । **देसियं** (देस) भूकृ 1/1 । **समए** (सम अ) 7/1 । **तेसिं** (त) 6/2 स । **चे** (अ)=यदि । **उप्पत्ती** (उप्पत्ति) 1/1 । **हिंसेत्ति** [(हिंसा)+(इत्ति)] हिंसा (हिंसा) 1/1 इत्ति (अ)=निश्चय ही । **जिणेहि** (जिण) 3/2 । **णिद्दिट्ठा** (णिद्दिट्ठा) भूकृ 1/1 ।

83 **अज्झवसिएण** (अज्झवसिअ) 3/1 । **बंधो** (बंध) 1/1 । **सत्तो** (सत्त) 2/2 **मारेज्ज*** (मार) विधि 2/1 सक । **मा** (अ)=नहीं । **य** (अ)= और भी । **एसो** (एत) 1/1 स । **बंधसमासो** [(बंध)–(समास) 1/1]। **जीवाणं** । (जीव) 6/2 । **णिच्छयणयस्स** (णिच्छयणय) 6/1 ।

*'ज्ज' प्रत्यय के लग पर अकारान्त धातुओं के अन्त्यस्थ 'अ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-159, 3-177) ।

84 **अत्ता** (अत्त) 1/1 । **चेव** (अ)=ही । **अहिंसा** (अहिंसा) 1/1 । **हिंसेति** [(हिंसा)+(इति)] हिंसा (हिंसा) 1/1 इति (अ)=ही । **णिच्छओ** (णि च्छ अ) 1/1 । **समए** (समअ) 7/1 । **जो** (ज) 1/1 सवि । **होदि**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(हो) व 3/1 अक। अप्पमत्तो (अप्पमत्त) 1/1 वि। अहिंसगो (अहिंसअ) 1/1 वि। हिंसगो (हिंसग) 1/1 वि। इदरो (इदर) 1/1 वि।

85 तुंगं (तुंग) 1/1 वि। न (अ)=नहीं। मंदराओ (मंदर) 5/1 आगासाओ (आगास) 5/1। विसालयं (विसाल) स्वार्थिक 'य' प्रत्यय /1 वि। नत्थि (अ)=नहीं। जह (अ)=जैसे। तह (अ)=वैसे ही। जयंमि (जय) 7/1। जाणसु (जाण) विधि 2/1 सक। धम्ममहिंसासमं [(धम्मं)+(अहिंसा)+(समं)] धम्मं (धम्म) 1/1 [(अहिंसा)-(सम) 1/1 वि]।

86 इमं (इम) 1/1 सवि। च[1] (अ)=और। मे (अम्ह) 6/1 स। अत्थि (अ)=है। नत्थि (अ)=नहीं। च (अ)=और। मे (अम्ह) 6/1 स। किच्चं (किच्च) 1/1। अकिच्चं (अकिच्च) 1/1। तं (त) 2/1 सवि। एवमेवं [(एवं)×एवं)] एवं (अ)=इस प्रकार एवं (अ)=ही। लालप्पमाणं (लालप्प) वकृ 2/1। हरा (हर) 1/2। हरंतिति [(हरंति)+(इति)] हरंति (हर)[2] व 3/2 सक. इति (अ)=अतः कहं (अ)=कैसे। पमाए (पमाय) 1/1।

1. दो वाक्यों को जोड़ने के लिए कभी कभी दो 'च' का प्रयोग 'और' अर्थ में किया जाता है।
2. कभी कभी बहुवचन का प्रयोग सम्मान प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है (हर=मृत्यु का देवता=काल)।

87 सीतंति (सीत्) व 3/2 सक। सुवंताणं (सुव) वकृ 6/2। अत्था (अथ) 1/2। पुरिसाण (पुरिस) 6/2। लोगसारत्था [(लोग)+(सार)+(अत्था)] [(लोग)-(सार)-(अत्थ) 1/2]। तम्हा (अ)=इसलिए। जागरमाणा (जागर) वकृ 1/2। विधुणध (विधुण) विधि 2/2 सक। पोराणयं (पोराण) स्वार्थिक 'य' प्रत्यय 2/1 वि। कम्मं (कम्म) 2/1।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

88 **जागरिया** (जागरिया) 1/1 । **धम्मीणं** (धम्मि) 6/2 वि । **अहम्मीणं** (अहम्मि) 6/2 वि । **व** (अ) = और । **सुत्तया** (सुत्तया) 1/1 । **सेया** (सेया) 1/1 वि । **वच्छाहिवभगिणीए** [(वच्छ)+(अहिव)+(भगिणीए)] [(वच्छ)-(अहिव)-(भगिणी) 4/1] । **अकहिंसु**[1] (अ-कह) भू. 3/1 सक । **जिणो** (जिण) 1/1 । **जयंतीए**[2] (जयंती)4/1 ।

1. पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 753
2. 'कह' आदि के योग में (जिससे कुछ कहा जाय उसमें) चतुर्थी विभक्ति होती है ।

89 **सुत्तेसु**[1] (सुत्त) 7/2 वि । **यावी** (अ) = तथा । **पडिबुद्धजीवी** [(पडिबुद्ध) भूक अनि-(जीवि) 1/1 वि] । **न** (अ) = नहीं । **वीससे**[1] (वीसस) विधि 3/1 सक । **पण्डिए** (पण्डिअ) 1/1 । **आसुपण्णे** (आसुपण्ण) 1/1 वि । **घोरा** (घोर) 1/2 वि । **मुहुत्ता** (मुहुत्त) 1/2 । **अबलं** (अबल) 1/1 वि । **सरीरं** (सरीर) 1/1 । **भारंड-पक्खी** [(भारंड)-(पक्खि) 1/1] । **व** (अ) = की तरह । **चरेऽप्पमत्तो** [(चरे)+(अप्पमत्तो)] चरे (चर) विधि 3/1 सक अप्पमत्तो (अप्पमत्त) 1/1 वि ।

1. 'विश्वास' अर्थ को बतलाने वाले शब्दों के योग में प्रायः (जिस पर विश्वास किया जाता है उसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

90 **न** (अ) = नहीं । **कम्मुणा** (कम्म) 3/1 । **कम्म** (कम्म) मूल शब्द 2/1 । **खवेंति** (खव) व 3/2 सक । **बाला** (बाल) 1/2 वि । **अकम्मुणा** (अकम्म) 3/1 । **धीरा** (धीर) 1/2 वि । **मेधाविणो** (मेधावि) 1/2 वि । **लोभमया** [(लोभ)-(मय) 5/1 । **वतीता** (वतीत) भूक 1/2 अनि । **संतोसिणो** (संतोसि) 1/2 । **नो** (अ) = नहीं । **पकरेंति** (पकर) व 3/2 सक । **पावं** (पाव) 2/1 ।

91 **नाऽलस्सेण**[1] [(ना)+(आलस्सेण)] ना (अ) = नहीं । **आलस्सेण**[1]

1. सम सह आदि के योग में तृतीय विभक्ति होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आलस्स) 3/1 । समं[1] (अ)=साथ । सुक्खं (सुक्ख) 1/1 । न अ=नहीं । विज्जइ (विज्जा) 1/1 । सह[1] (अ)=साथ । निद्दया[2] (निद्दा) 3/1 अनि । वेरग्गं (वेरग्ग) 1/1 । ममत्तेण (ममत्त) 3/1 । आरंभेण[1] [(अ)+(आरंभेण)] न (अ)=नहीं आरंभेण (आरंभ) 3/1 । दयाणुवा (दयाणुवा) 1/1 ।

1. समं, सह आदि के योग में तृतीया विभक्ति होती है ।

92 जागरह (जागर) विधि 2/2 अक । नरा (नर) 8/2 । णिच्चं (अ)=निरंतर । जागरमाणस्स (जागर) वकृ 6/1 । वड्ढते (वड्ढ) व 3/1 अक । बुद्धी (बुद्धि) 1/1 । जो (ज) 1/1 स । सुवति (सुव) व 3/1 अक । ण (अ)=नहीं । सो (त) 1/1 स । धन्नो (धन्न) 1/1 वि । जग्गति (जग्ग) व 3/1 अक । सया (अ)=सदा ।

93 विवत्ती (विवत्ति) 1/1 । अविणीअस्स (अविणीअ) 6/1 वि । संपत्ती (संपत्ति) 1/1 । विणीअस्स (विणीअ) 6/1 वि । य (अ)=और । अस्सेयं [(अस्स)+(एयं)] । अस्स[1] (अ) 6/1 स एयं (एय) 1/1 सवि । दुहओ (अ)=दोनों प्रकार से । नायं (नाय) 1/1 भूकृ अनि । सिक्खं (सिक्खा) 2/1 । से (त) 1/1 सवि । अभिगच्छइ (अभिगच्छ) व 3/1 सक ।

1. कभी कभी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग तृतीया विभक्ति के स्थान पर होता है (हेम प्राकृत व्याकरण : 3–134)

94 अह (अ) अच्छा तो । पंचहिं (पंच) 3/2 वि । ठाणेहिं (ठाण) 3/2 । जेहिं (ज) 3/2 सवि । सिक्खा (सिक्खा) 1/1 । न (अ)=नहीं । लब्भई[1] (लब्भइ) व कर्म 3/1 सक अनि । थम्भा[2] (थम्भ) 5/1 ।

1. छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।
2. किसी कार्य का कारण व्यक्त करने वाली (स्त्रीलिंग भिन्न) संज्ञा में तृतीया ता पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोहा[1] (कोह) 5/1 । **पमाएणं**[1] (पमाअ) 3/1 । **रोगेगाऽलस्सएण** [(रोगेण)+(आलस्सएण)] रोगेण[1] (रोग) 3/1 आलस्सएण (आलस्स) स्वार्थिक 'अ' प्रत्यय 3/1 । **य** (अ)=तथा ।

1. किसी कार्य का कारण व्यक्त करने वाली (स्त्रीलिंग भिन्न) संज्ञा में तृतीया या पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है ।

95 **अह** (अ)=अच्छा तो । **अट्ठहिं** (अट्ठ) 3/2 । **ठाणेहिं** (ठाण) 3/2 । **सिक्खासीले** [(सिक्खा)-(सील)[1] 1/1 वि] । **त्ति** (अ)=शब्दस्वरूप द्योतक । **वुच्चई**[2] (वुच्चई) व कर्म 3/1 सक अनि । **अहस्सिरे** (अ-हस्सिर) 1/1 वि । **सया** (अ)=सदा । **दंते** (दंत) भूकृ 1/1 अनि । **न** (अ)=नहीं । **य** (अ)=तथा । **मम्ममुदाहरे** [(मम्मं)+(उदाहरे)] मम्मं (मम्म) 2/1 । उदाहरे (उदाहर) व 3/1 सक ।

96 **नासीले** [(न)+(असीले)] । **न** (अ)=नहीं असीले (असील) 1/1 वि । **विसीले** (विसील) 1/1 वि । **सिया** (अ)=है । **अइलोलुए** [(अइ) वि-(लोलुअ) 1/1 वि **अकोहणे** (अकोहण) 1/1 वि । **सच्चरए** [(सच्च)-(रअ) भूकृ 1/1 अनि] ।

1. समास के अन्त में अर्थ होता है । प्रवण, सम्पन्न आदि ।
2. आधी या पूरी गाथा के अन्त में आने वाली 'इ' को 'ई' कर दिया जाता है (क्रियापदों में) (पिशल: प्रा. भा. व्या. पृष्ठ, 138) ।

97 **नाणमेग्गचित्तो** [(नाणं)+(एगग्गचित्तो)] नाणं (नाण) 2/1 एगग्गचित्तो (एगग्गचित्त) 1/1 वि । **य** (अ)=और । **ठिओ** (ठिअ) भूकृ 1/1 अनि । **ठावयई**[1] (ठव प्रेरक→ठावय) प्रेरक अनि व 3/1 सक । **परं** (पर) 2/1 वि । **सुयाणि** (सुय) 2/2 । **य** (अ)=और । **अहिज्जित्ता**

1. छन्द की मात्रा की पूर्त्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(अहिज्ज) संकृ । रओ (रअ) 1/1 वि । सुयसमाहिए[1] [(सुय)-(समाहि) 7/1] ।

1. समाहीए→समाहिए, विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व कर दिये जाते हैं । (पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 182) ।

98 वसे (वस) व 3/1 अक । गुरुकुले [(गुरु)-(कुल) 7/1] । णिच्चं (अ) = सदा । जोगवं[1] (जोगवन्त→जोगवन्तो→जोगवं) 1/1 वि । उवहाणवं[1] (उवहाणवन्त→उवहाणवन्तो→उवहाणवं) 1/1 वि । पियंकरे (पियंकर) 1/1 वि । पियंवाई (पियंवाइ) 1/1 वि । से (त) 1/1 सवि । सिक्खं (सिक्ख) 2/1 । लद्धुमरिहई [(लद्धुं)+(अरिहई)] । लद्धुं (लद्धुं) हेकृ अनि । अरिहई[2] (अरिह) व 3/1 सक ।

1. अभिनव प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ, 427
2. पूरी या आधी गाथा के अन्त में आने वाले क्रियापद के 'इ' को 'ई' कर दिया जाता है (पिशल: प्रा. भा. व्या. पृष्ठ 138) ।

99 जह (अ) = जैसे । दीवा[1] (दीव) 5/1 । दीवसयं][(दीव)-(सय) 1/1] । पइप्पए (पइप्प) व 3/1 अक । सो (त) 1/1 सवि । य (अ) = और । दिप्पए (दिप्प) व 3/1 अक । दीवो (दीव) 1/1 । दीवसमा [(दीव)-(सम) 1/2] वि] । आयरिया[2] (आयरिय) 1/2 । दिप्पंति (दिप्प) व 3/2 अक । परं (पर) 2/1 । च (अ) = और । दीवेंति (दीव) व 3/2 सक ।

1. किसी कार्य का कारण व्यक्त करने वाली (स्त्रीलिंग भिन्न) संज्ञा तृतीया या पंचमी का प्रयोग होता है ।
2. कभी कभी बहुवचन का प्रयोग सम्मान अथवा भक्ति प्रकट करने के लिए होता है ।

100 उत्तमगुणाण [(उत्तम) वि-(गुण) 6/2] । धामं (धाम) 1/1 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्वदव्वाण[1] [(सव्व)–(दव्व) 6/2] । उत्तमं (उत्तम) 1/1 । दव्वं (दव्वं) 1/1 । तच्चाण[1] (तच्च)] 6/2 परं (पर) 1/1 वि । तच्चं (तच्च) 1/1 । जीवं (जीव) 1/1 । जाणेह (जाण) विधि 2/2 सक । णिच्छयदो (णिच्छय) पंचमी अर्थक 'दो' प्रत्यय ।

1. जिस समुदाय में से एक को छांटा जाता है, उस समुदाय में षष्ठी अथवा सप्तमी होती है ।

101 जीवा (जीव) 1/2 । हवंति (हव) व 3/2 अक । तिविहा (तिविह) 1/2 वि । बहिरप्पा (बहिरप्प) 1/2 । तह य[1] (अ)=और । अंतरप्पा (अंतरप्प) 1/2 । य[1] (अ)=और । परमप्पा (परमप्प) 1/2 । वि य (अ)=और । तुविहा (दुविह) 1/2 वि । अरहंता (अरहंत) 1/2 । सिद्धा (सिद्ध) 1/2 । य (अ)=और ।

1. दो शब्दों को जोड़ने के लिए कभी कभी 'और' अर्थ को व्यक्त करने वाले अव्यय दो बार प्रयोग किए जाते हैं ।

102 अक्खाणि (अक्ख) 1/2 । बहिरप्पा (बहिरप्प) 1/1 । अंतरप्पा (अंतरप्प) 1/1 । हु (अ)=ही । अप्पसंकप्पो [(अप्प)–(संकप्प) 1/1] । कम्मकलंक-विमुक्को [(कम्म)–(कलंक)–(विमुक्क) 1/1 वि] । परमप्पा (परमप्प) 1/1 । भण्णए (भण्णए) व कर्म 3/1 सक अनि । देवो (देव) 1/1 ।

103 ससरीरा (ससरीर) 1/2 वि । अरहंता (अरहंत) 1/2 । केवलणाणेण (केवलणाण) 3/1 । मुणिय-सयलत्थो [(मुणिय)+(सयल)+(अत्था)] [(मुणिय) भूकृ-(सयल) वि–(अत्थ) 1/2] । णाणसरीरा [(णाण)–(सरीर) 1/2] । सिद्धा (सिद्ध) 1/2 । सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता [(सव्व)+(उत्तम)+(सुक्ख)+(संपत्ता)] [(सव्व) वि–(उत्तम) वि–(सुक्ख)–(संपत्त) भूकृ 1/2 अनि] ।

104 आरुहवि (आरुह+अवि) संकृ अपभ्रंश । अंतरप्पा (अंतरप्प) 2/1 ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश। **बहिरप्पा** (बहिरप्प) 2/1 अपभ्रंश। **छंडिऊण** (छंड) संकृ तिविहेण (तिविह) 3/1। **झाइज्जइ** (झाअ) व कर्म 3/1 सक। **परमप्पा** (परमप्प) 1/1। **उवइट्ठं** (उवइट्ठ) भूकृ 1/1 अनि। **जिणवरिंदेहि** (जिणवरिंद) 3/2।

105 **अरसमरूवमगंधं** [(अरसं)+(अरूवं)+(अगंधं)] अरसं (अरस) 1/1 वि अरूवं (अरूव) 1/1 वि अगंधं (अगंध) 1/1 वि। **अव्वत्तं** (अव्वत्त) 1/1 वि। **चेदणागुणमसद्दं** [(चेदणागुणं)+(असद्दं)] चेदणागुणं (चेदणागुण) 1/1 वि असद्दं (असद्द) 1/1 वि। **जाण** (जाण) विधि 2/1 सक। **अलिंगग्गहणं** [(अलिंग)-(ग्गहण) 1/1]। **जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** [(जीवं)+(अणिद्दिट्ठ)+(संठाणं)]। जीवं (जीव) 1/1 [(अणिद्दिट्ठ) भूकृ अनि-(संठाण) 1/1]।

106 **सुहपरिणामो** [(सुह) वि-(परिणाम) 1/1]। **पुण्णं** (पुण्ण) 1/1। **असुहो** (असुह) 1/1 वि। **पाव**[1] (पाव) मूल शब्द 1/1। **त्ति** (अ)= इस प्रकार। **भणियमन्नेसु** [(भाणियं)+(अन्नेसु)] भणियं (भण) भूकृ. 1/1। अन्नेसु (अन्न) 7/2। **परिणामो** (परिणाम) 1/1। **णण्णगदो** [(ण)+(अण्णगदो)]। **दुक्खक्खयकारणं** [(दुक्ख)-(क्खय)-(कारण) 1/1]। **समये** (समय) 7/1।

1. किसी भी कारक में मूल संज्ञा शब्द काम में लाया जा सकता है। (पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृष्ठ 517)

107 **पुण्णं** (पुण्ण) 2/1। **पि** (अ)=ही। **जो** (ज)=1/1 सवि। **समिच्छदि** (समिच्छ) व 3/1 सक। **संसारो** (संसार) 1/1। **तेण** (त) 3/1 स। **ईहिदो** (ईह) भूकृ 1/1। **होदि** (हो) व 3/1 अक। **पुण्णं** (पुण्ण) 1/1। **सुगईहेदुं** [(सुगइ⇒सुगई[1])-(हेदु) 1/1]। **पुण्णमएणेव** [(पुण्ण)+

1. समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर परस्पर में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व हो जाते है (हेम प्राकृत व्याकरण: 1-4)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(खएण)+(एव)] [(पुण्ण)-(खअ) 3/1] एव (अ)= ही। **णिव्वाणं** (णिव्वाण) 1/1।

108 **कम्ममसुहं** [(कम्मं)+(असुहं)] कम्मं (कम्म) 1/1। असुहं (असुह) 1/1 वि। **कुसीलं** (कुसील) 1/1 वि। **सुहकम्मं** [(सुह)-(कम्म) 1/1]। **चावि** (अ)=और। **जाण** (जाण) विधि 2/1 सक। **व** (अ) =पाद पूरक। **सुसीलं** (सुसील) 1/1 वि। **कह** (अ)=कैसे। **तं** (त) 1/1 सवि। **होदि**(हो)व 3/1 अक। **सुसीलं** (सुसील) 1/1 वि। **जं** (ज) 1/1 सवि। **संसारं** (संसार) 2/1। **पवेसेदि** (पवेस) व 3/1 सक।

109 **सोवण्णियं** (सोवण्णिय) 1/1 वि। **पि** (अ)=भी। **णियलं** (णियल) 1/1। **बंधदि** (बंध) व 3/1 सक। **कालायसं** [(काल)+(आयसं)] [(काल) वि-(आयस) 1/1 वि]। **पि** (अ)=और। **जह** (अ)=जैसे। **पुरिसं** (पुरिस) 1/1। **बंधदि** (बंध) व 3/1 सक। **एवं** (अ)=वैसे ही। **जीवं** (जीव) 2/1। **सुहमसुहं** [(सुहं)+(असुहं)] सुहं (सुह) 1/1 वि असुहं (असुह) 1/1 वि। **वा** (आ)=भी। **कदं** (कद) भूक 1/1 अनि। **कम्मं** (कम्म) 1/1।

110 **तम्हा** (अ)=इसलिए। **दु** (अ)=तो। **कुसीलेहिं** (कुसील) 3/2 वि। **य** (अ)=बिल्कुल। **रायं** (राय) 2/1। **मा** (अ)=मत। **कुणह** (कुण) विधि 2/2 सक। **व** (अ)=और। **संसग्गं** (संसग्ग) 1/1। **साहीणो** (साहीण) 1/1 वि। **हि** (अ)=क्योंकि। **विणासो** (विणास) 1)1। **कुसीलसंसग्गरायेण** [(कुसील)-(संसग्ग)-(राय) 3/1]।

111 **वरं** (अ)=अधिक अच्छा। **वयतवेहि** [(वय)-(तव) 3/2]। **सग्गो** (सग्ग) 1/1। **मा** (अ)=न। **दुक्खं** (दुक्ख) 1/1। **होउ** (हो) व 3/1 अक। **णिरइ** (णिरय→णिरअ) 7/1 अपभ्रंश। **इयरेहिं** (इयर) 3/2 वि। **छायातवट्ठियाणं** [(छाया)+(आतव)+(ट्ठियाणं)] [(छाया) -(आतव)-(ट्ठिय) भूक 6/2 अनि]। **पडिवालंताण** (पडिवाल) वकृ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4/2। गुरुभेयं [(गुरु) वि–(भेय) 1/1]।

112 खयरामरमणुय-करंजलि-मालाहिं [(खयर)+(अमर)+(मणुय)+(कर)+(अंजलि)+(मालाहि)] [(खयर)–(अमर)–(मणुय)–(कर)–(अंजलि)–(माला) 3/2]। च (अ)=निस्सन्देह। संथुया (संथुय→संथुया) भूकृ 1/1 अनि। विउला (विउल→विउला) 1/1 वि। चक्कहररायलच्छी [(चक्कहर)–(राय)–(लच्छी) 1/1]। लब्भई[1] (लब्भइ) व कर्म 3/1 सक अनि। बोही (बोहि) 1/1। ण (अ)=नहीं। भव्वणुआ [(भव्व)+(अणुआ)] [(भव्व)–(अणुअ[2]→अणुआ) 1/1 वि]।

1. मात्रा के लिए 'इ' को 'ई' किया गया है।
2. अणुग→अणुअ=अनुसरण करने वाला (आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोष)।

113 नाणं (नाण) 2/1 चरित्तहीणं [(चरित्त)–(हीण) भूकृ 2/1 अनि]। लिंगग्गहणं [(लिंग)–(ग्गहण) 2/1]। च (अ)=और। दंसणविहीणं [(दंसण)–(विहीण) भूकृ 2/1 अनि]। संजमहीणं [(संजम)–(हीण) भूकृ 2/1। तवं (तव) 2/1। जो (ज) 1/1 सवि। चरइ (चर) व 3/1 सक। निरत्थयं (निरत्थय) 1/1 वि। तस्स (त) 4/1 स।

114 नादंसणिस्स [(न)+(अदंसणिस्स)] न (अ)=नहीं। अदंसणिस्स (अदंसणि) 4/1 वि। नाणं (नाण) 1/1। नाणेण[1] (नाण) 3/1। विणा[1] (अ)=बिना। न (अ)=नहीं। हुंति (हु) व 3/2 अक। चरणगुणा [(चरण)–(गुण)] अगुणिस्स (अगुणि) 4/1 वि। नत्थि (अ)=नहीं। मोक्खो (मोक्ख) 1/1। अमोक्खस्स (अमोक्ख) 4/1। निव्वाणं (निव्वाण) 1/1।

1 'बिना' के योग में तृतीया भी होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

115 **हयं** (हय) 1/1 वि। **नाणं** (नाण) 1/1। **कियाहीणं** [(किया)–(हीण) 1/1 वि]। **हया** (हया) 1/1 वि। **अण्णाणओ**[1] (अण्णाण→अण्णाणाओ→अण्णाणओ) 5/1। **किया** (किया) 1/1। **पासंतो** (पास) वकृ 1/1। **पंगुलो** (पंगुल) 1/1 वि। **दड्ढो** (दड्ढ) भूकृ 1/1 अनि। **धावमाणो** (धाव) वकृ 1/1। **य** (अ) = और। **अंधओ** (अंधअ) 1/1 वि।

1 विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व हो जाते हैं। (पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 82)

116 **संजोअसिद्धीइ** [(संजोअ)–(सिद्धि) 7/1]। **फलं** (फल) = 2/1। **वयंति** (वय) व 3/2 सक। **न** (अ) = नहीं। **हु** (अ) = क्योंकि। **एगचक्केण** [(एग) वि–(चक्क) 3/1]। **रहो** (रह) 1/1। **पयाइ** (पया) व 3/1 अक। **अंधो** (अंध) 1/1 वि। **य**[1] (अ) = और। **पंगू** (पंगु) 1/1 वि। **वणे** (वण) 7/1। **समिच्चा** (समिच्चा) संकृ अनि। **ते** (त) 1/2 स। **संपउत्ता** (संपउत्त) 1/2 वि। **नगरं**[2] (नगर) 2/1। **पविट्ठा**[3] (पविट्ठ) भूकृ 1/2 अनि।

1. दो शब्दों को जोड़ने के लिए कभी कभी दो 'य' का प्रयोग 'और' अर्थ में किया जाता है।
2. सभी गत्यार्थक क्रियाओं के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।
3. यहां भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग कर्तृवाच्य में है। जाना, चलना अर्थ की क्रियाओं में भूतकालिक कृदन्त कर्तृवाच्य में भी होता है।

117 **जीवादी**[1] [(जीव) + (आदी)] [(जीव)–(आदि) 2/2]। **सद्दहणं** (सद्दहणं) 1/1। **सम्मत्तं** (सम्मत्त) 1/1। **जिणवरेहिं** (जिणवर) 3/2। **पण्णत्तं** (पण्णत्त) भूकृ 1/1 अनि। **ववहारा** (ववहार) 5/1। **णिच्छयदो** (णिच्छय) पंचमी अर्थक 'दो' प्रत्यय। **अप्पा** (अप्प) 1/1। **णं** (अ) = ही। **हवइ** (हव) व 3/1 अक। **सम्मत्तं** (सम्मत्त) 1/1।

1 'श्रद्धा' के योग में द्वितीया का प्रयोग होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

118 **सम्मत्तविरहिया** [(सम्मत्त)–(विरहिय) भूक 1/2 अनि] । **णं** (अ)= वाक्यालंकार । **सुट्ठु** (अ) = अत्यन्त । **वि** (अ) = भी । **उग्गं** (उग्ग) 2/1 वि । **तवं** (तव) 2/1 । **चरंता** (चर) वकृ 1/2 । **णं** (अ) = वाक्यालंकार । **ण** (अ) = नहीं । **लहंति** (लह) व 3/2 सक । **बोहिलाहं** [(बोहि)–(लाह) 2/1] । **अवि** (अ) = भी ॥ **वाससहस्सकोडीहिं** [(वास)–(सहस्स) वि–(कोडि)[1] 3/2] ।

1 कभी कभी सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है । (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-135) ।

119 **दंसणसुद्धो** [(दंसण)–(सुद्ध) भूकृ 1/1 अनि] । **सुद्धो**[1] (सुद्ध) भूकृ 1/1 अनि । **लहेइ** (लह) व 3/1 सक । **णिव्वाणं** (णिव्वाण) 2/1 । **दंसणविहीण** [(दंसण)–(विहीण) मूल शब्द भूकृ 1/1 अनि] । **पुरिसो** (पुरिस) 1/1 । **न** (अ) = नहीं । **लहइ** (लह) व 3/1 सक । **तं** (त) 2/1 स । **इच्छियं** (इच्छ→इच्छिय) भूकृ 2/1 । **लाहं** (लाह) 2/1 ।

1. शुद्ध→सुद्ध = अद्वितीय (आप्टे ; संस्कृत-हिन्दी कोष) ।

120 **सम्मत्तस्स** (सम्मत्त) 6/1 । **य** (अ) = एक ओर । **लंभो** (लंभ) 1/1 । **तेलोक्कस्स** (तेलोक्क) 6/1 । **य** (अ) = दूसरी ओर । **हवेज्ज**[1] (हव) विधि 3/1 अक । **जो** (ज) 1/1 सवि । **सम्मद्दंसणलंभो** [(सम्मदंसण)–(लंभ) 1/1] । **वरं** (अ) = अधिक अच्छा । **खु** (अ) = निस्संन्देह । **तेलोक्कलंभादो** [(तेलोक्क)–(लंभ) 5/1] ।

1. प्राकृत के क्रियापद में 'ज्ज' और 'ज्जा' प्रत्यय जोड़ने पर अन्त्यस्थ स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-159, 3-177) ।

121 **किं** (किं) 1/1 सवि । **बहुणा** (बहु) 3/1 वि । **भणिएणं** (भण→भणिअ) भूकृ 3/1 । **जे** (अ) = पादपूरक । **सिद्धा** (सिद्ध) भूकृ 1/2 अनि । **णरवरा** [(णर)–(वर) 1/2 वि] । **गए** (गअ) भूकृ 7/1 अनि । **काले**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(काल) 7/1 । **सिज्झिहिंति** (सिज्झ) भवि 3/2 अक । **जे** (अ) = पाद-पूरक । **वि** (अ) = भी । **भविया** (भविय) 1/2 वि । **तं** (त) 2/1 स । **जाण** (जाण) व 3/1 सक । **इ** (अ) = वाक्यालंकार । **सम्ममाहप्पं** [(सम्म) –(माहप्प) 2/1] ।

122 **सेवंतो** (सेव) वकृ 1/1 । **वि** (अ) = भी । **ण** (अ) = नहीं । **सेवइ** (सेव) व 3/1 सक । **असेवमाणो** (असेव) वकृ 1/1 । **वि** (अ) = किन्तु । **सेवगो** (सेवग) 1/1 वि । **कोई** (अ) = कोई (कुछ मनुष्य) । **पगरणचेट्ठा** [(प-गरण)–(चेट्ठा) 5/1] । **कस्स** (क) 6/1 स । **वि** (अ) = भी । **ण** (अ) = नहीं । **य** (अ) = बिल्कुल । **पायरणो**[1] (पायरण) 1/1 वि । **त्ति** (अ) = निश्चय ही । **सो** (त) 1/1 सवि । **होई**[2] (होइ) व 3/1 अक ।

1. प्राकरणिक = प्राकरण (वि) (Monier Williams: p. 701 Col. III) ।
2. पूरी या आधी गाथा के अन्त में आनेवाली 'इ' का क्रिया पदों में 'ई' हो जाता है (पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृष्ठ 139) ।

123 **सम्मदिट्ठी** (सम्मदिट्ठि) 1/2 वि । **जीवा** (जीव) 1/2 । **णिस्संका** (णिस्संक) 1/2 वि । **होंति** (हो) व 3/2 अक । **णिब्भया** (णिब्भय) 1/2 वि । **तेण** (अ) = इसलिए । **सत्तभयविप्पमुक्का** [(सत्त)–(भय)–(विप्पमुक्क) 1/2 वि] । **जम्हा** (अ) = चूँकि । **तम्हा** (अ) = इसलिए । **दु** (अ) = निश्चय ही ।

124 **खाई-पूया-लाहं** [(खाई[1])–(पूया)–(लाह) 2/1] । **सक्काराइं** [(सक्कार) + (आइं)] [(सक्कार) – (आइ) 2/1] । **किमिच्छसे** [(किं) +

1. समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर परस्पर में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व हो जाते हैं (हेम प्राकृत व्याकरण : 1-4) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इच्छसे)]। किं (अ)=क्यों। इच्छसे (इच्छ) व 2/1 सक + जोई (जोइ) 8/1। इच्छसि (इच्छ) व 2/1 सक। जइ (अ)=यदि। परलोयं [(पर) वि–(लोय) 2/1]। तेहिं (त) 3/2 स। किं (अ)=क्या। तुज्झ (तुम्ह) 4/1। परलोये [(पर) वि–(लोय) 7/1]।

125 अत्थेव [(जत्थ)+(एव)] जत्थ (अ)=जहाँ एव (अ)=भी। पासे (पास) विधि 3/1 सक। कइ (अ)=कहीं। दुप्पउत्तं (दुप्पउत्त) भूकृ 2/1 अनि। काएण (काअ) 3/1। वाया[1] (वाया) 3/1 अनि। अदु (अ)=या। माणसेणं (माणस) 3/1। तत्थेव [(तत्थ)+(एव)] तत्थ (अ)=वहाँ एव (अ)=ही। धीरो (धीर) 1/1 वि। पडिसाहरेज्जा (पडिसाहर) विधि 3/1 सक। आइण्णो (आइण्ण) 1/1। खिप्पमिवक्खलीणं [(खिप्पं)+(इव)+(क्खलीणं)] खिप्पं (अ)=तुरंत इव (अ)=जैसे क्खलीणं (क्खलीण) 2/1

1. वाच—वाचा—वाया।

126 जो (ज) 1/1 सवि। धम्मिएसु (धम्मिअ) 7/2। भत्तो (भत्त) भूकृ 1/1 अनि। अणुचरणं (अणुचरण) 2/1। कुणदि (कुण) व 3/1 सक। परमसद्धाए [(परम) वि–(सद्धा) 3/1]। पियवयणं [(पिय)–(वयण) 2/1]। जंपंतो (जंप) वकृ 1/1। वच्छल्लं (वच्छल्ल) 1/1। तस्स[1] (त) 6/1 स। भव्वस्स[1] (भव्व) 6/1 वि।

1. कभी कभी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के स्थान पर पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण, 3–134)।

127 जह जह (अ)=जैसे जैसे सुयमोगाहइ [(सुयं)+(ओगाहइ)] सुयं[1] (सुय) 2/1। ओगाहइ (ओगाह) व 3/1 सक। अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं [(अइसय)+(रस)+(पसर)+(संजुयं)+(अपुव्वं)] [(अइसय)–

1. कभी कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के स्थान पर पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण, 3–137)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(रस)-(पसर)-(संजुय) भूकृ 2/1 अनि] अपुव्वं (अपुव्व) 2/1 वि। तह तह (अ)=वैसे वैसे। पल्हाइ[1] (पल्हा) व 3/1 अक। मुणी (मुणि) 1/1 वि। नवनवसंवेगसद्धाओ [(नव)-(नव)-(संवेग)-(सद्धा) 5/2]।

1. पल्हायइ→पल्हाय→पल्हा

128 सुई (सुई)1/1। जहा (अ)=जैसे। ससुत्ता (ससुत्ता)1/1 वि। न (अ)=नहीं। नस्सई[1] (नस्स) व 3/1 अक। कयवरम्मि (कयवर) 7/1। पडिआ(पड)भूकृ1/1। वि (अ)=भी। जीवो (जीव)1/1। वि (अ)=ही। तह (अ)=वैसे ही। ससुत्तो (ससुत्त) 1/1 वि। नस्सइ (नस्स) व 3/1 अक। गओ (गअ) भूकृ 1/1 अनि। वि (अ)=भी। संसारे (संसार) 7/1।

1 छन्द की मात्रा की पूर्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है।

129 जेण (अ)=जिससे। तच्चं (तच्च) 1/1। विबुज्झेज्ज[1] (विबुज्झ) व कर्म 3/1 सक। चित्तं (चित्त) 1/1। णिरुज्झदि (णिरुज्झदि) व कर्म 3/1 अक अनि। अत्ता (अत्त) 1/1। विसुज्झेज्ज[1] (विसुज्झ) व कर्म 3/1 सक। तं (त) 1/1 सवि। णाणं (णाण) 1/1। जिणसासणे [(जिण)-(सासण) 7/1]।

1. कभी कभी कर्मवाच्य तथा भाववाच्य बनाने के लिए 'ईअ' अथवा 'इज्ज' प्रत्यय का प्रयोग न करके 'ज्ज' प्रत्यय लगाकर अन्त्य स्वर 'अ' के स्थान पर 'ए' किया जाता है। (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-160 की वृत्ति)।

130 जेण (अ)=जिसके द्वारा। रागा (राग) 5/1। विरज्जेज्ज[1] (विरज्ज) व भाव 3/1 अक। सेएसु (सेअ) 7/2। रज्जदि (रज्जदि) व भाव 3/1 अक अनि। मित्ती (मित्ती) 1/1। पभावेज्ज[1] (पभाव) व कर्म 3/1 सक। तं (त) 1/1 सवि। णाणं (णाण) 1/1। जिणसासणे [(जिण)-(सासण) 7/1]।

1. देखें गाथा 252।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

131 जो (ज) 1/1 सवि। पस्सदि (पस्स) व 3/1 सक। अप्पाणं (अप्पाण) 2/1। अबद्धपुट्ठं [(अबद्ध)+(अपुट्ठं)] [(अबद्ध) भूक अनि-(अपुट्ठ) भूक 2/1 अनि]। अणण्णमविसेसं [(अणण्णं)+(अविसेसं)] अणण्णं (अणण्णं) 2/1 वि अविसेसं (अविसेस) 2/1। अपदेससुत्तमज्झं [(अ-पदेस)+(अ-सुत्त)+(अ-मज्झं)] [(अ-पदेस) वि-(अ-सुत्त) वि-(अ-मज्झ) 1/1 वि]। जिणसासणं [(जिण)-(सासण) 2/1]। सव्वं (सव्व) 2/1 वि।

132 एदम्हि (एद) 7/1 सवि। रदो (रद) भूक 1/1 अनि। णिच्चं (अ)= सदा। संतुट्ठो (संतुट्ठ) भूक 1/1 अनि। होहि (हो) विधि 2/1 अक। णिच्चमेदम्हि [(णिच्चं)+(एदम्हि)] णिच्चं (अ)=सदा, एदम्हि (एद) 7/1 सवि। एदेण (एद) 3/1। तित्तो (तित्त) भूक 1/1 अनि। होहिदि (हो) भवि 3/1 अक। तुह (तुम्ह) 6/1। उत्तमं (उत्तम)1/1। सोक्खं (सोक्ख) 1/1।

133 लद्धूणं (लद्धूण) संकृ। णिहि (णिहि) 2/1। एक्को (एक्क) 1/1 वि। तस्स (त) 6/1 स। फलं (फल) 2/1। अणुहवेइ (अणुहव) व 3/1 सक। सुजणत्तें (सुजणत्त) 3/1 अपभ्रंश। तह (अ)=उसी प्रकार। णाणी (णाणि) 1/1 वि। णाणणिहि [(णाण)-(णिहि) 2/1]। भुंजेइ (भुंज) व 3/1 सक। चइत्तु (चइत्तु) संकृ। परतत्ति [(पर) वि-(तत्ति) 2/1]।

134 सक्किरियाविरहातो [(सक्किरिया)-(विरह[1]) 5/1]। इच्छितसंपावयं [(इच्छित) भूक-(संपावय[2])2/1 वि]। ण (अ)=नहीं। नाणं (नाण) 1/1। ति (अ)=वाक्यार्थ द्योतक। मग्गण्णू (मगण्णु) 1/1 वि।

1. किसी कार्य का कारण बतलाने के लिए तृतीया या पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

2. संपावयं=संप्रापकं (वि)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाऽचेट्ठो [(वा)+(अचेट्ठो)]। वा (अ)=जैसे कि अचेट्ठो (अचेट्ठ) 1/1 वि। **वातविहीणोऽधवा** [(वात)+(विहीणो)+(अधवा)] [(वात)-(विहीण) भूक 1/1 अनि] अधवा (अ)=या। **पोतो** (पोत) 1/1।

135 **सुबहुं** (क्रिविअ)=अति अधिक रूप से। **पि** (अ)=भी। **सुयमहीयं** [(सुयं)+(अहीयं)] **सुयं** (सुय) 1/1। अहीयं (अहीय) 1/1 वि। **किं** (किं) 2/1 सवि। **काहिइ** (का) भवि 3/1 सक। **चरणविप्पहीणस्स**[1] [(चरण)-(विप्पहीण) 6/1 वि]। **अंधस्स** (अंध) 6/1 वि। **जह** (अ)=जैसे। **पलित्ता** (पलित्त) भूक 1/2 अनि। **दीवसयसहस्सकोडी** [(दीव)-(सयसहस्स)-(कोडि) 1/2]। **वि** (अ)=भी।

1. कभी कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण 3-134)।

136 **थोवम्मि** (थोव) 7/1 वि। **सिक्खिदे** (सिक्ख) भूक 7/1। **जिणइ** (जिण) व 3/1 सक। **बहुसुदं** (बहुसुद) 2/1 वि। **जो** (ज) 1/1 सवि। **चरित्तसंपुण्णो** [(चरित्त)-(संपुण्ण) भूक 1/1 अनि]। **पुण** (अ)=किन्तु। **चरित्तहीणो** [(चरित्त)-(हीण) भूक 1/1 अनि]। **किं** (किं) 1/1 सवि। **तस्स** (त) 4/1 स। **सुदेण** (सुद) 3/1। **बहुएण** (बहुअ) 3/1 वि।

137 **णिच्छयणयस्स** (णिच्छयणय) 6/1। **एवं** (अ)=यह इस प्रकार। **अप्पा** (अप्प) 1/1। **अप्पम्मि** (अप्प) 7/1। **अप्पणे** (अप्पण) 7/1 वि। **सुरदो** (सु-रद) भूक 1/1 अनि। **सो** (त) 1/1 सवि। **होदि** (हो) व 3/1 अक। **हु** (अ)=निश्चय ही। **सुचरित्तो** (सु-चरित्त) 1/1। **जोई** (जोइ) 1/1। **लहइ** (लह) व 3/1 सक। **णिव्वाणं** (णिव्वाण) 2/1।

138 **जो** (ज) 1/1 सवि। **सव्वसंगमुक्कोऽणण्णमणो** [(सव्व)+(संग)+(मुक्को)+(अणण्णमणो)] [(सव्व) वि-(संग)-(मुक्क) भूक 1/1

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनि] अणण्णमणो (अणण्णमण) 1/1 वि। अप्पणं (अप्पण) 2/1। सहावेण (सहाव) 3/1। जाणदि (जाण) व 3/1 सक। पस्सदि (पस्स) व 3/1 सक। णियदं (क्रिविअ) = निश्चय ही। सो (त) 1/1 सवि। सगचरियं [(सग)-(चरिय) 2/1]। चरदि (चर) व 3/1 सक। जीवो (जीव) 1/1।

39 चारित्तं (चरित्त) 1/1। खलु (अ) = निस्सन्देह। धम्मो (धम्म) 1/1। जो (ज) 1/1 सवि। सो (त) 1/1 सवि। समो (सम) 1/1। त्ति (अ) = निश्चय ही। णिद्दिट्ठो (णिद्दिट्ठ) भूक 1/1 अनि। मोहक्खोह-विहीणो [(मोह)-(क्खोह)-(विहीण) भूक 1/1 अनि]। परिणामो (परिणाम) 1/1। अप्पणो (अप्पण) 6/1। हु (अ) = ही।

40 सुविदिदपयत्थसुत्तो [(सु-विदिद) भूक अनि-(पयत्थ)-(सुत्त) 1/1]। संजमतवसंजुदो [(संजम)-(तव)-(संजुद) भूक 1/1 अनि]। विगदरागो [(विगद) भूक अनि-(राग) 1/1]। समणो (समण) 1/1। समसुहदुक्खो [(सम) वि-(सुह)-(दुक्ख) 1/1]। भणिदो (भण) भूक 1/1। सुद्धोवओगो [(सुद्ध)+(उवओगो)] [(सुद्ध) भूक अनि-(उवओग) 1/1]। त्ति (अ) = समाप्ति सूचक।

41 सुद्धस्स (सुद्ध) भूकृ 6/1 अनि। य (अ) = ही। सामण्णं (सामण्ण) 1/1। भणियं (भण) भूक 1/1। सुद्धस्स (सुद्ध) भूक 6/1 अनि। दंसणं (दंसण) 1/1। णाणं (णाण) 1/1। णिव्वाणं (णिव्वाण) 1/1। सो (त) 1/1 सवि। च्चिय (अ) = ही। सिद्धो (सिद्ध) भूक 1/1 अनि। णमो (अ) = नमस्कार। तस्स (त) 4/1 स।

42 अइसयमादसमुत्थं [(अइसयं)+(आद)+(समुत्थं)] अइसयं (अइसय) 1/1 वि [(आद)-(समुत्थ) 1/1 वि]। विसयातीदं [(विसय)+(अतीदं)] [(विसय)-(अतीद) 1/1 वि]। अणोवममणंतं [(अणोवमं)+(अणंतं)] अणोवमं (अणोवम) 1/1 वि. अणंतं (अणंत) 1/1 वि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अव्वुच्छिन्नं (अव्वुच्छिन्न) 1/1 वि। च (अ)=और। सुहं (सुह) 1/1। सुद्धुवओगप्पसिद्धाण [(सुद्ध)+(उवओग)+(प्पसिद्धाणं)] [(सुद्ध)+(उवओग)+(प्पसिद्धाणं)] [(सुद्ध) भूक 6/2 अनि]।

143 जस्स (ज) 6/1 स। ण (अ)=नहीं। विज्जदि (विज्ज) व 3/1 अक। रागो (राग) 1/1। दोसो (दोस) 1/1। मोहो (मोह) 1/1। व (अ)=और। सव्वदव्वेसु [(सव्व) वि-(दव्व) 7/2] । णाऽऽसवदि [(ण)+(आसवदि)]। ण (अ)=नहीं। आसवदि (आसव) व 3/1 सक। सुहं (सुह) 1/1 वि। असुहं (असुह) 1/1 वि। समसुहदुक्खस्स [(सम) वि-(सुह)-(दुक्ख) 4/1]। भिक्खुस्स (भिक्खु) 4/1।

144 अब्भंतरसोधीए [(अब्भंतर) वि-(सोधि) 3/1] । बाहिरसोधी [(बाहिर)] वि-(सोधि) 1/1]। वि (अ)=भी। होदि (हो) व 3/1 अक। णियमेण (क्रिविअ)=आवश्यक रूप से। अब्भंतरदोसेण [(अब्भंतर) वि-(दोस) 3/1]। हु (अ)=ही। कुणदि (कुण) व 3/1 सक। णरो (णर) 1/1। बाहिरे (बाहिर) 2/2 वि। दोसे (दोस) 2/2 वि।

145 मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो [(मद[1])-(माण)-(माया⇒माय[2])-(लोह)-(विवज्ज⇒विवज्जिय) भूक-(भाव) 1/1] । हु (अ)=ही। भावसुद्धि [(भाव)-(सुद्धि[3]) 1/1]। त्ति (अ)=वाक्य समाप्ति सूचक। परिकहियं (परिकह) भूक 1/1। भव्वाणं (भव्व) 4/2। लोयालोयप्पदरिसीहिं [(लोय)+(अलोय)+(प्पदरिसीहिं)] [(लोय)-(अलोय)-(प्पदरिसि) 3/2]।

1. मद=कामुकता (आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोश)।
2. हेम प्राकृत व्याकरण 1-84 (संयुक्ताक्षर के पूर्व ह्रस्व होता है)।
3. समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर परस्पर में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व हो जाते हैं (हेम प्राकृत व्याकरण, 1-4)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

146 जह (अ) = जिस प्रकार। णिरुद्धं (णिरुद्ध) भूकृ 1/1 अनि। असुहं (असुह) 1/1 वि। सुहेण (सुह) 3/1। सुहमेवि [(सुहं)+(अवि)]। तहेव (अ)–उसी प्रकार। सुद्धेण (सुद्ध) भूकृ 3/1 अनि। तम्हा (अ)=इसलिए। एण[1] (इम) 3/1 स। कमेण (कम) 3/1। य (अ)=ही। जोई (जोइ) 1/1। झाएउ (झाअ) विधि 3/1 सक। णियआदं [(णिय)–(आद) 2/1]।

1. इम→णेण→एण।

147 आहारासण-णिद्दाजयं [(आहार)+(आसण)+(णिद्दा)+(जय)] [(आहार)–(आसण)–(णिद्दा)–(जय) 2/1]। च (अ)=और। काऊण (काऊण) संकृ अनि। जिणवरमएण [(जिणवर)–(मअ)[1] 3/1]। झायव्वो (झा) विधिकृ 1/1। णियअप्पा [(णिय)–(अप्प) 1/1]। णाऊणं (णाऊण) संकृ। गुरुपसाएण [(गुरु)–(पसाअ) 3/1]।

1. कभी कभी तृतीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी विभक्ति के स्थान पर किया जाता है। (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137)।

148 तस्सेस [(तस्स)+(एस)] तस्स (त) 6/1 एस (एत) 1/1 सवि। मग्गो (मग्ग) 1/1। गुरुविद्धसेवा [(गुरु)–(विद्ध)–(सेवा) 1/1। स्त्री
विवज्जणा (विवज्जण→विवज्जणा) 1/1। बालजणस्स [(बाल)–(जण) 6/1]। दूरा (अ)=पूर्ण रूप से। सज्झायएगंतनिवेसणा स्त्री
[(सज्झाय)–(एगंत) वि। (निवेसण→निवेसणा) 1/1]। य (अ)=भी। सुत्तत्थ [(सुत्त)+(अत्थ)] [(सुत्त)–(अत्थ) मूल शब्द 6/1]। संचिंतणया (सं–चिंतणया) 1/1। धिई (धिइ) 1/1। य=तथा।

149 आहारमिच्छे [(आहारं+(इच्छे)] आहारं (आहार) 2/1 इच्छे (इच्छ) विधि 3/1 सक। मियमेसणिज्जं [(मियं)+(एसणिज्जं)] मियं (मिय) 2/1 वि एसणिज्जं (एस) विधिकृ 2/1। सहायमिच्छे [(सहायं)+

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इच्छे)] सहायं (सहाय) 2/1 इच्छे (इच्छ) विधि 3/1 सक। निउणत्थबुद्धि [(निउण)+(अत्थ)+(बुद्धि)] [(निउण) वि–(अत्थ)-(बुद्धि) 2/1] । निकेयमिच्छेज्ज [(निकेयं)+(इच्छेज्जं)] निकेयं (निकेय) 2/1 इच्छेज्ज (इच्छ) विधि 3/1 सक । विवेगजोग्ग [(विवेग)–(जोग्ग) 2/1] । समाहिकामे [(समाहि)–(काम) 1/1 वि] समणे (समण) 1/1 तवस्सी (तवस्सि) 1/1 वि।

150 हियाहारा [(हिय)+(आहारा)] [(हिय) वि–(आहार) 5/1] । मियाहारा [(मिय)+(आहारा)] [(मिय) वि–(आहार) 5/1] । अप्पाहारा [(अप्प)+(आहारा)] [(अप्प) वि–(आहार) 5/1]। य (अ)=और। जे (ज) 1/2 सवि । नरा (नर) 1/2 । न (अ)=नहीं ते (त) 2/2 । विज्जा (विज्जा) 1/2 । तिगिच्छंति (तिगिच्छ) व 3/2 सक। अप्पाणं (अप्प) 6/2 ते (त) 1/2 सवि । तिगिच्छगा (तिगिच्छग) 1/2 वि।

151 विवित्तसेज्जाऽऽसणजंतियाणं [(विवित्त)+(सेज्जा)+(आसण)+(जंतियाणं)] [(विवित्त) भूकृ अनि–(सेज्जा)–(आसण)–(जंत)+भूकृ 6/2]। ओमाऽसणाणं [(ओम)+(असणाणं)][(ओम)–(असण)[1] 6/2] । दमिइंदियाणं [(दमिअ)+(इंदियाणं)][(दम) भूकृ–(इंदिय)[1] 6/2] अ=नहीं] रागसत्तू [(राग)–(सत्तु) 1/1] । धरिसेइ (धरिस) व 3/1 सक। चित्तं (चित्त) 2/1 । पराइओ (पराइ) भूकृ 1/1 । वाहिरिवोसहेहिं [(वाहि)+(रिउ)+(ओसहेहिं)] [(वाहि)–(रिउ)–(ओसह) 3/2]।

1. कभी कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण 3–134)।

152 जरा (जरा) 1/1 । जाव (अ)=जब तक। न (अ)=नहीं। पिलेइ (पील) व 3/1 सक। वाही (वाहि) 1/1 । वड्ढई[1] (वड्ढ) व 3/1

1. छंद की मात्रा की पूर्त्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अक । जाविंदिया [(जाव)+(इंदिया] जाव (अ)=जब तक । इंदिया (इंदिय) 1/2 । हायंति (हाय) व 3/2 अक । ताव (अ)=तब तक । धम्मं (धम्म) 2/1 समायरे (समायर) विधि 3/1 सक ।

153 दो (दो) 1/2 । चेव (अ)=ही । जिणवरेहिं (जिणवर) 3/2 । जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं [(जाइ)-(जरा)-(मरण)-(विप्पमुक्क) 3/2] । लोगम्मि (लोग) 7/1 । पहा (पह) 1/2 । भणिया (भण) भूकृ 1/2 । सुस्समण (सुस्समण) मूल शब्द 1/1 । सुसावगो (सुसावग) 1/1 । वावि (अ)=और ।

154 दाणं (दाण) 1/1 । पूया (पूया) 1/1 । मुक्खं (मुक्ख) 1/1 । सावयधम्मे [(सावय)-(धम्म) 7/1] । ण (अ)=नहीं । सावया (सावय) 1/2 । तेण[1] (त) 3/1 स । विणा (अ)=बिना । झाणाज्झयणं [(झाण)+(अज्झयणं)] [(झाण)-(अज्झयण) 1/1] । मुक्खं (मुक्ख) 1/1 वि । जइधम्मे [(जइ)-(धम्म) 7/1] । तं[1] (त) 2/1 स । विणा (अ)=बिना । तहा (अ)=उसी प्रकार । सो (त) 1/1 सवि । वि (अ)=भी ।

1. 'बिना' के योग में द्वितीया या तृतीया होती है ।

155 आहारोसह-सत्थाभय-भेओ [(आहार)+(ओसह)+(सत्थ)+(अभय)+(भेअ)] [(आहार—(ओसह)—(सत्थ)—(अभय)—(भेअ) 1/1] । जं (ज) 1/1 सवि । चउव्विहं (चउव्विह) 1/1 वि । दाणं (दाण) 1/1 तं (त) 1/1 सवि वुच्चई (वुच्चइ) व कर्म 3/1 सक अनि । दायव्वं (दा) विधिकृ 1/1 णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे [(णिद्दिट्ठं)+उवासय)+(अज्झयणे)] [णिद्दिट्ठं (णिद्दिट्ठ) भूकृ 1/1 अनि । [(उवासय)-(अज्झयण) 7/1] ।

156 जयणा (जयणा) 1/1 । उ (अ)=निश्चय ही । धम्मजणणी [(धम्म)-(जणणी) 1/1] । धम्मस्स (धम्म) 6/1 । पालणी (पालणी) 1/1 वि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेव (अ) = निश्चय ही+तच्चुड्ढीकरी [(त)–(च्चुड्ढीकरी) 1/1 वि] । एगंतसुहावहा [(एगंत) + (सुह) + (आवहा)] [(एगंत) वि—स्त्री (सुह)–(आवह→आवहा) 1/1 वि] ।

157 जयं (क्रिविअ) = जागरूकतापूर्वक । चरे (चर) विधि 3/1 सक । चिट्ठे (चिट्ठ) विधि 3/1 अक । जयमासे [(जयं) + (आसे)] जयं (क्रिविअ) = जागरूकतापूर्वक आसे (आस) विधि 3/1 अक । सए (सअ) विधि 3/1 अक । भुंजंतो (भुंज) वकृ 1/1 । भासंतो (भास) वकृ 1/1 पावं (पाव) 2/1 वि । कम्मं (कम्म) 2/1 । न (अ) = नहीं । बंधइ (बंध) व 3/1 सक ।

158 णाणेण (णाण) 3/1 । उज्झाणसिज्झी [(उज्झाण)–(सिज्झि) 1/1] । झाणादो (झाण) 5/1 । सव्वकम्मणिज्जरणं [(सव्व) वि–(कम्म)–(णिज्जरण) 1/1] । णिज्जरणफलं [(णिज्जरण)–(फल) 1/1] । मोक्खं (मोक्ख) 1/1 । णाणब्भासं [(णाण) + (अब्भासं)] [(णाण)–(अब्भास) 2/1] । तदो (अ) = इसलिए । कुज्जा (कु) विधि 3/1 सक ।

159 णाणमयवायसहिओ [(णाणमय) वि–(वाय)–(सहिअ) 1/1 वि] । सीलुज्जलिओ [(सील) + (उज्जलिओ)] [(सील)—उज्जल) भूक 1/1 । तवो (तव) 1/1 । मओ (मअ) 1/1 वि । अग्गी (अग्गि) 1/1 । संसारकरणबीयं [(संसार)–(करण) वि–(बीय) 2/1] । वहइ (वह) व 3/1 सक । दवग्गी (दवग्गि) 1/1 । व (अ) = जैसे कि । तणरासिं [(तण)—रासि) 2/1] ।

160 लवण[1] (लवण) मूल शब्द । व्व (अ) = जैसे । सलिलजोए [(सलिल)—(जोअ) 7/1] । झाणे (झाण) 7/1 । चित्तं (चित्त) 1/1 । विलीयए

1 कर्त्ता कारक के स्थान में केवल मूल संज्ञा शब्द भी काम में लाया जा सकता है । (पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : पृष्ट 518)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(वि-ली-य[1]) व 3/1 अक। **जस्स** (ज) 6/1 स। **तस्स** (त) 6/1 स। **सुहासुहडहणो** [(सुह)+(असुह)+डहणो) [(सुह) वि-(असुह) वि-(डहण) 1/1 वि] **अप्पा**(अप्प) 1/1। **अणलो** (अणल) 1/1। **पयासेइ** (पयास) व 3/1 अक।

1. अकारान्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य स्वरान्त धातुओं में विकल्प से अ (य) जोड़ने के पश्चात् प्रत्यय लगाए जाते हैं।

161 **न** (अ)=नहीं। **कसायसमुत्थेहि** [(कसाय)—(समुत्थ) 3/2 वि] **य** (अ)=पादपूर्त्ति। **वहिज्जइ** (वह)व कर्म 3/1 सक। **माणसेहिं** (माणस) 3/2 वि। **दुक्खेहिं** (दुक्ख) 3/2। **ईसाविसायसोगाइएहिं** [(ईसा)+(विसाय)+(सोग)+(आइएहिं)] [(ईसा—(विसाय)—(सोग)—(आइअ) 3/2]। **झाणोवगयचित्तो** [(झाण)+(उवगय)+)चित्तो)] [(झाण)-(उवगय) भूकृ अनि-(चित्त) 1/1]।

162 **जह** (अ)=जैसे। **चिरसंचियमिंधणमनलो** [(चिर)+(संचियं)+(इंधणं)+(अनलो)]। चिर (अ)=दीर्घ काल तक संचिय (संचिय) भूकृ 2/1 अनि। इंधणं (इंधण) 2/1। अनलो (अनल) 1/1। **पवण-सहिओ** [(पवण)-(सहिअ) 1/1 वि]। **दुयं** (क्रिविअ=तुरन्त। **डहइ** (दह) व 3/1 सक। **तह** (अ)=वैसे ही। **कम्मेधणममियं** [(कम्म)+(इंधणं)+(अमियं)] [(कम्म)-(इंधण) 2/1] अमियं (अमिय) 2/1 वि। **खणेण** (क्रिविअ)=क्षण भर में। **झाणानलो** [(झाण)+(अनलो)] [(झाण)-(अनल) 1/1)]। **डहइ** (डह) व 3/1 सक।

163 **जरामरणवेगेणं** [(जरा)-(मरण)-(वेग) 3/1]। **वुज्झमाणाण** (वुज्झमाणाण) वकृ कर्म 4/2 अनि। **पाणिणं**[1] (पाणि) 4/2। **धम्मो** (धम्म) 1/1। **दीवो** (दीव) 1/1। **पइट्ठा** (पइट्ठा) 1/1। **य** (अ)=और। **गई** (गइ) 1/1। **सरणमुत्तमं** [(सरणं)+(उत्तमं)] सरणं

1. विभक्ति जुड़ते समय दीर्घ स्वर बहुधा कविता में ह्रस्व हो जाते हैं। (पिशल : प्रा. भा. व्या. पृ. 182)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(सरण) 1/1 । उत्तमं (उत्तम) 1/1 वि ।

166 धीरेण (धीर) 3/1 वि । वि (अ) = भी । मरियव्वं[1] (मर) विधिकृ 1/1 । काउरिसेण (काउरिस) 3/1 । वि (अ) = भी । अवस्समरियव्वं [(अवस्स) अ = आवश्यकरूप से—मरियव्वं[1] (मर) विधिकृ 1/1] । तम्हा (अ) इसलिए । अवस्समरणे [(अवस्स) वि–(मरण) 7/1] । वरं (अ) = अधिक अच्छा । खु (अ) = निश्चय ही । धीरत्तणे[2] (धीरत्तण) 7/1 । मरिउं (मर) हेकृ ।

1. कभी कभी विधि कृदन्त का प्रयोग केवल भविष्यत् काल को ही सूचित करता है ।
2. कभी कभी तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है (हेम प्राकृत व्याकरण : 3–135)

165 सेणावइम्मि[1] (सेणावइ) 7/1 । णिहए[1] (णिहअ) 7/1 भूकृ अनि । जहा (अ) = जिस तरह । णा (सेणा) 1/1 । पणस्सई[2] (पणस्स) व 3/1 अक । एवं (अ) इस प्रकार । कम्माणि (कम्म) 1/2 । णस्संति (णस्स) व 3/2 अक । मोहणिज्जे[1] (मोहणिज्ज) 7/1 । खयं (खय) 2/1 । गए[1] (गअ) 7/1 भूकृ अनि ।

1. यदि एक क्रिया के बाद दूसरी क्रिया हो तो पहली क्रिया में कृदन्त का प्रयोग होता है और यदि कर्तृवाच्य है तो कर्त्ता और कृदन्त में सप्तमी होगी, यदि कर्मवाच्य है तो कर्म और कृदन्त में सप्तमी होगी, कर्त्ता में तृतीया ।
2. छन्द की मात्रा की पूर्त्ति हेतु 'इ' को 'ई' किया गया है ।

166 जेण[1] (ज) 3/1 स । विणा (अ) = बिना । लोगस्स (लोग) 6/1 । वि (अ) = ही । ववहारो (ववहार) 1/1 । सव्वहा (अ) = बिल्कुल । न (अ) = नहीं । निव्वहइ (निव्वह) व 3/1 अक । तस्स (त) 6/1

1. बिना के योग में तृतीया, द्वितीया पंचमी विभक्ति होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स । भुवणेक्कगुरुणो[1] [(भुवण)+(एक्क)+(गुरुणो)] [(भुवण)-(एक्क) वि-(गुरु) 4/1] । णमो (अ)=नमस्कार । अणेगंतवायस्स[1] [(अणेगंत)-(वाय) 4/1] ।

2. 'णमो' के योग में चतुर्थी होती है ।

167 जम्हा (अ)=चूँकि । ण (अ)=नहीं । णएण[1] (णअ) 3/1 । विणा (अ)=बिना । होइ (हो) व 3/1 अक । णरस्स (णर)6/1 । सियवाय-पडिवत्ती [(सियवाय)-(पडिवत्ति) 1/1] । तम्हा (अ)=इसलिए । सो (त) 1/1 स । बोहव्वो (बोहव्वो) विधिकृ 1/1 अनि । एयंतं (एयंत) 2/1 । हंतुकामेण (हंतुकाम) 3/1 वि ।

1. बिना के योग में तृतीया, द्वितीया या पंचमी विभक्ति होती है ।

168 णाणाधम्मजुदं [(णाणा[1]) वि-(धम्म)-(जुद) भूकृ 1/1 अनि] । पि (अ)=निश्चय ही । य (अ)=और । एयं (एय) 1/1 वि । धम्मं (धम्म) 1/1 । पि (अ)=ही । वुच्चदे (वुच्चदे) वकर्म 3/1 सक अनि । अत्थं (अत्थ)1/1 । तस्सेयविवक्खादो[(तस्स)+(एय)+(विवक्खादो)] तस्स (त) 6/1 स । [(एय) वि-(विवक्ख) 5/1] । णत्थि (अ)=नहीं । विवक्खा (विवक्खा) 1/1 । हु (अ)=क्योंकि । सेसाणं (सेस) 6/2 वि ।

1. समास के आरम्भ में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है । (संस्कृत-हिन्दी कोश)

169 सयं (स) स्वार्थिक 'य' प्रत्यय 2/1 वि । पसंसंता (पसंस) वकृ 1/2 । गरहंता (गरह) वकृ 1/2 । परं (पर) 2/1 वि । वयं (वय) 2/1 । जे (ज) 1/2 स । उ (अ)=पादपूर्त्ति । विउस्संति (विउस्स) 3/2 अक । तत्थ (अ)=उस अवसर पर । संसारं[1] (ससार) 2/1 । ते (त)

1. सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1/2 स । **विउस्सिया** (विउस्सिय) 1/2 वि ।

170 **णाणाजीवा**-[(णाणा) वि[1]-(जीव) 1/2] । **णाणाकम्मं** [(णाणा) वि[1]-(कम्म) 1/1] । **णाणाविहं**[2] (णाणाविहा) 2/1 वि । **हवे** (हव) व 3/1 अक । **लद्धी** (लद्धि)1/1 । **तम्हा** (अ) = इसलिए । **वयणविवादं** [(वयण)-(विवाद) 2/1] । **सगपरसमएहिं**[3] [(सग) स्वार्थिक 'ग' प्रत्यय वि-(पर) वि-(समअ) 3/2] । **वज्जिज्जा**[4] (वज्ज) विधि 2/1 सक ।

1. समास के आरम्भ में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है । (संस्कृत हिन्दी कोश) ।
2. कभी कभी प्रथमा विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग होता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-137 की वृत्ति)
3. कभी कभी पंचमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-136)
4. 'ज्जा' प्रत्यय जोड़ने के पश्चात् शब्द के अन्त्य 'अ' को 'इ' हो जाता है या 'ए' हो जाता है । (हेम प्राकृत व्याकरण : 3-177 की वृत्ति) ।

□ □ □

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणसुत्तं चयनिका एवं समणसुत्तं गाथा–क्रम

चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम
1	1	22	51	43	86
2	2	23	52	44	91
3	3	24	53	45	92
4	4	25	54	46	95
5	5	26	55	47	96
6	6	27	57	48	98
7	7	28	60	49	100
8	8	29	61	50	102
9	9	30	68	51	103
10	10	31	69	52	104
11	11	32	71	53	106
12	12	33	72	54	107
13	19	34	73	55	109
14	23	35	74	56	110
15	24	36	76	57	114
16	27	37	77	58	118
17	29	38	79	59	121
18	46	39	81	60	122
19	47	40	82	61	123
20	49	41	83	62	124
21	50	42	85	63	125

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम
64	126	88	162	112	204
65	127	89	163	113	210
66	128	90	165	114	211
67	129	91	167	115	212
68	131	92	168	116	213
69	134	93	170	117	220
70	135	94	171	118	222
71	136	95	172	119	224
72	137	96	173	120	225
73	138	97	174	121	226
74	142	98	175	122	229
75	145	99	176	123	232
76	146	100	177	124	235
77	147	101	178	125	240
78	148	102	179	126	242
79	150	103	180	127	247
80	151	104	181	128	248
81	152	105	185	129	252
82	153	106	198	130	253
83	154	107	199	131	254
84	157	108	200	132	259
85	158	109	201	133	261
86	160	110	202	134	265
87	161	111	203	135	266

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम	चयनिका क्रम	समणसुत्तं गाथा-क्रम
136	267	148	290	160	486
137	268	149	291	161	502
138	271	150	292	162	504
139	274	151	294	163	525
140	276	152	295	164	569
141	277	153	296	165	613
142	278	154	297	166	660
143	279	155	331	167	691
144	281	156	394	168	724
145	282	157	395	169	734
146	284	158	478	170	735
147	288	159	483		

समणसुत्तं (सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन), राजघाट, वाराणसी

□ □ □

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहायक पुस्तकें एवं कोश

1. समणसुत्तं : (सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, वाराणसी)
2. हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण भाग 1-2 : व्याख्याता श्री प्यारचन्दजी महाराज (श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, मेवाड़ी बाजार, ब्यावर)
3. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : डॉ. आर. पिशल (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना)
4. अभिनव प्राकृत व्याकरण : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (तारा पब्लिकेशन, वाराणसी)
5. प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (तारा पब्लिकेशन, वाराणसी)
6. प्राकृतमार्गोपदेशिका : पं. बेचरदास जीवराज दोशी (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)
7. संस्कृत निबन्ध-दर्शिका : वामन शिवराम आप्टे (रामनारायण बेनीमाधव, इलाहाबाद)
8. प्रौढ़-रचनानुवाद कौमुदी : डॉ. कपिलदेव द्विवेदी (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी)
9. पाइअ-सद्द-महण्णवो : पं. हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ (प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी)
10. संस्कृत हिन्दी-कोश : वामन शिवराम आप्टे (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)
11. Sanskrita-English Dictionary : M. Monier Williams (Munshiram Manoharlal, New-Delhi)
12. बृहत् हिन्दी कोश : सम्पादक : कालिकाप्रसाद आदि (ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org